

દુર્ગાપુરિષદ

અપારદ્યાય કનકનંદી

तत्त्वाद्युतिपत्र

लेखक :
एलाचार्य उपाध्याय कनकनन्दी

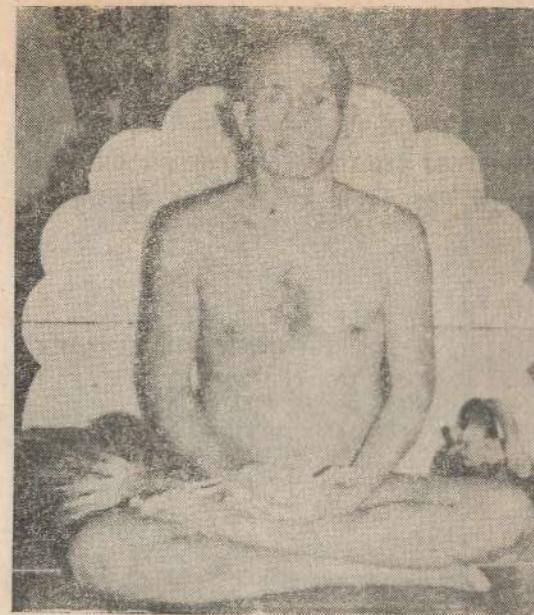
प्रकाशक :

धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन
निकट-दिगम्बर जैन अतिथि भवन, बड़ौत (मेरठ)

धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन ग्रन्थांक-42

तत्त्वानुचितन

- लेखक : एलाचार्य, उपाध्याय कनकनंदी ।
- आशीर्वाद : गणधरवाचार्य श्री कुन्त्युसामर जी महाराज ।
- सहयोगी : बालाचार्य श्री पद्मनन्दी जी, मुनि श्री कुमार विज्ञानन्दी जी । आर्यिका राजश्री माताजी, आर्यिका क्षमाश्री माताजी ।
- सम्पादक मण्डल : डॉ० (श्रीमती) नीलम जैन (पी-एच० डी०) देहरादून । श्री सुशीलचन्द्र जैन (एम० एस-सी०, भौतिकी) बड़ौत । श्री रघुवीरर्णसह जैन (एम० एस-सी०, एल० एल० बी०) भूतपूर्व प्रोफेसर, मुजफ्फरनगर । श्री प्रभात कुमार जैन (एम० एस-सी०, रसायन प्रबक्ता) मुजफ्फरनगर ।
- अध्यक्ष : श्री प्रेमचन्द मित्तल (एम० ए०) बड़ौत (मेरठ) फोन : घर-2309, ऑफिस-2531
- मन्त्री : श्री सुदेश कुमार जैन (एम० ए०) बड़ौत ।
- कोषाध्यक्ष : श्री अनिल कुमार जैन (बी० ए०) बड़ौत ।
- प्रचार मन्त्री : कु० संगीता जैन (एम० कॉम०, बी० एड०) बड़ौत ।
- प्रकाशन संयोजक :
 - श्री योगेश चन्द्र जैन, प्रैसीडेण्ट प्रेस, मेरठ कैन्ट ।
- प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :
 - धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन
 - कार्यालय : निकट दिग्गज जैन अतिथि भवन, बड़ौत, (मेरठ) ।
- दृश्यदाता : श्री अशोक जैन
783/11 गुरुनानक गली (अशोक गली) गांधी नगर, देहली-110031
फोन : 2249544, 2242183, 2214770
- सर्वाधिकार सुरक्षित लेखकाधीन
- प्रथम संस्करण : 1991
- मूल्य : मात्र 25.00 रु०
- प्रतियाँ : 1100
- मुद्रक :
 - प्रैसीडेण्ट प्रेस,
 - 90, विवेकानन्द पथ, मेरठ कैन्ट ।
- दूरभाष : 76708, 73143



आशीर्वाद

वर्तमान काल बड़ा निकृष्ट है, प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान शून्य होता जा रहा है। ज्ञान बिना व्यक्ति एक प्रकार का अन्धा होता है। उसको चर्म चक्षु तो रहती है किन्तु ज्ञान चक्षु नहीं रहती। जीव स्वार्थ वश कुछ करना ही नहीं चाहता दूसरों को सिखाना तो चाहता है लेकिन स्वयं नहीं सीखना चाहता, इसलिए ज्ञान की वृद्धि नहीं होती, पुस्तकीय ज्ञान तो बहुत बढ़ रहा है लेकिन सभ्यता नहीं आ रही है, विनय नहीं आ रहा है जिधर देखो उधर अशान्ति का वातावरण है। ऐसे अशान्ति के वातावरण में विज्ञान के साथ में धर्म की परम आवश्यकता है और वैसी ही पुस्तकें भी चाहियें। पुस्तकें तो बहुत हैं लेकिन धार्मिक एवं वैज्ञानिक परक नहीं हैं। इसीलिए हमारे उपाध्याय कनक नन्दी जी, सदसाहित्य का प्रचार हो, इस भावना से पुस्तकें लिख रहे हैं। यह एक सद पुरुषार्थ है, जीवों का उपकारी है ज्ञान वृद्धि का कारण है। आपके सामने अच्छा-अच्छा साहित्य आ रहा है आपके साहित्य की सब जगह प्रशंसा हो रही है, बहुत अच्छी बात है, महाराज श्री के साहित्य को सब लोग को खूब पढ़ाना चाहिये। वास्तव में ही आबाल बुद्धों के पढ़ने लायक है। वर्तमान विज्ञान युग में इस प्रकार के साहित्य की परम आवश्यकता है वस्तु स्वरूप क्या है, लोगों को मालूम ही नहीं है। उपाध्याय जी के ऐसे साहित्य की बहुत आवश्यकता है अब आपके सामने एक और पुस्तक आ रही है। इसका नाम “तत्त्वानुचितन” है। पुस्तक बहुत अच्छी है। इस पुस्तक में अच्छी व्याख्या की गई है।

लेखक को मेरा आशीर्वाद है, इस पुस्तक छपाने वाले द्रव्यदाता अशोक जैन गांधी नगर, दिल्ली को भी मेरा आशीर्वाद है, आप इसी तरह अपने द्रव्य का सदुपयोग सत् साहित्य प्रचार में लगाते रहें ऐसा मेरा आशीर्वाद है लेखन कार्य में सहयोग करने वाले साधु, साध्वी बालिकायें, प्रोफेसरों को मेरा मंगलमय आशीर्वाद। वे सर्व सत्य धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए पूर्ण सत्य स्वरूप बनें यह मेरी वीर प्रभु से कामना है।

—गणधराचार्य कुन्थुसागर



शुभाशीर्वदि

लोक प्रसिद्ध सुक्ति है कि चिन्ता और चिता में व्याकरण की दृष्टि से सामान्य अन्तर होते हुए भी सैद्धान्तिक दृष्टि से महान् अन्तर है क्योंकि चिता तो मरे हुए मनुष्य को जलाती है परन्तु चिन्ता सजीव मनुष्य को ही जला देती है। जो अग्नि शब्द को जलाती है उसको चिता कहते हैं परन्तु सामान्य अग्नि को चिता नहीं कहते हैं। इसी प्रकार जो विचार मनुष्य के तन, मन एवं आत्मा को क्षीण करता है, विनाश करता है, अवनति की ओर ले जाता है इस विचार को चिन्ता कहते हैं परन्तु जो विचार तन, मन, आत्मा को विकास की ओर ले जाता है उसको चिन्तन कहते हैं। अग्नि का दुरुपयोग करके विष्वंश भी कर सकते हैं और सदुपयोग से विकास कर सकते हैं। इसी प्रकार यदि हम विचारों को रचनात्मक कार्य में विनियोग करते हैं तब वे विचार हमारे लिए उन्नति के कारण बन जाते हैं अन्यथा विष्वंसात्मक कार्यों में प्रयोग करने से अवनति का कारण बन जाते हैं।

जैसे एक कार के लिए गति शक्ति (गति ऊर्जा) प्रकाश एवं ब्रेक चाहिये उसी प्रकार मानव जीवन में उन्नति रूपी गति, ज्ञान रूपी प्रकाश एवं संयम रूपी ब्रेक की नितान्त आवश्यकता है। यदि कार में गति एवं प्रकाश होते हुए भी ब्रेक नहीं है तो वह कार बेकार हो जायेगी क्योंकि ब्रेक रहित कार से दुर्घटना होना स्वाभाविक है जिससे धन एवं जीवन का नाश हो जाता है उसी प्रकार प्रगति एवं ज्ञान सहित मानव भी योग्य संयमित विचार नहीं करता है तो उसकी गति

मूर्ख उसका जाग विकास के परिवर्तन में विनाश के कारण बन जायेगे इसलिए विचार तो युग्म, अशर्म स्वपरोपकारी, प्रेरणाप्रद होना चाहिये। इस ही सिद्धान्त को इस "सहायता" धर्म में प्राचीन विभिन्न सत्य शोधकों के, सत्य उपासकों के अमूल्य लक्ष्यों की सहायता से विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रबुद्ध पाठक वर्ग इस तत्वानुचिततम का विषयन करके स्वरूप एवं विश्वस्वरूप का परिज्ञान करके परम तत्त्व-स्वरूप एवं स्वभात्मतत्त्व को प्राप्त करें इन महती शुभ कामनाओं के साथ द्रव्यदाता, परमदेव विज्ञान शोध प्रकाशन के कार्यकर्ता एवं सहायकों को मेरा आशीर्वाद।

इस छाति का प्रकाशन भार 'अशोक जैन' (गांधीनगर देहली) ने स्वेच्छा से लिया है। यह एक अनुकरणीय आदर्श है उन्हें मेरा धर्म वृद्धि आशीर्वाद।

—उपाध्याय कनकनन्दी

मेरे भी दो शब्द

प्रत्येक कार्य भावना से प्रेरित होकर होता है। विना भावना के कोई भी कार्य नहीं होता है, चाहे वह अच्छे कार्य हों या बुरे कार्य, उसमें भावनायें भी जरूरी हैं। यों कह सकते हैं, कि भावना से ही कार्य प्रारम्भ होता है। किसी की झोंपड़ी को आग लगानी हो या किसी की कोई वस्तु उठानी हो इसमें भी उसे अनेकों बार सोचना पड़ता है, इससे कार्य इतना सरल, सहज होता है, जो कि रोज के व्यवहार में हम अनुभव करते हैं। हम किसी ऐसे व्यक्ति का चरित्र पढ़ते हैं जिसने अपने कार्य में सफलतायें कैसे हासिल की। फिर वो अच्छे हों या बुरे, उसे पढ़कर हमारी मनोभावनायें उस किया के प्रति सक्रिय होती हैं। मान लीजिये, हम धनुष्ठारी अर्जुन की शूरवीरता पर कुछ पढ़ते हैं या सुनते हैं तो उनके चरित्र से हमारे बाह्योंमें भी वह पौरुष जाग जाता है। मान लीजिए, हम सीता हरण प्रसंग पर उसका करुणापूर्ण रुदन पढ़ते या सुनते हैं तो हमारी आँखें करुणा से भर आती हैं। मान लीजिए, हम राम के वनवास के प्रसंग को सुनते या पढ़ते हैं तो उसकी सहिष्णुता पर मन अपनी योग्यता को सोचने को मजबूर करता है। मान लीजिए, हम हस्तिनापुर की राजसभा में दुशासन, द्वोपदी का चीर हरण करता है उसे पढ़ते या सुनते हैं तो इसके प्रति मन घृणा से भर उठता है। ऐसे एक नहीं, हजारों बातों से हम देख सकते हैं हमारी भावनाओं से हमारे शरीर एवं मन पर क्या प्रभाव पड़ता है? हमारी कृति में कैसा बदलाव आता है? हमारी मनोभावनायें उस क्रिया के प्रति कैसे सक्रिय होती है? यह किसकी वजह से हो रहा है? और कुछ नहीं, हमारा विचार/चिन्तन/ भावना ही हमें उस क्रिया के प्रति निष्ठा/ आस्थावान बनाती है। इसे ही आचार्यों ने 'अनुप्रेक्षा' कहा है। 'प्रेक्षा का मतलब है चिन्तन, 'अनु' पुनरावृत्ति के अर्थ में आता है। किसी एक विषय में मन का स्थिर होना ध्यान है। उसकी पूर्वावस्था में किसी एक विषय का पुनः पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा ध्यान की पृष्ठ-भूमिका है। अतः अनुप्रेक्षा ध्यान की पृष्ठ-भूमिका है।

वैसे हमारी सर्व ही क्रियायें अनुप्रेक्षा से अनुप्रेरित हैं, फिर चाहे वे शुभ हों या अशुभ। पर यहाँ अन्धकार ने इसका उपयोग आत्म स्वभाव उत्थान के प्रसंग में किया है। सांसारिक जीवन में कई बार उत्थान-पतन के प्रसंग आते हैं। कभी संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, जन्म-मरण जैसी न जाने कितनी परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है, ऐसे समय में देखा यही जाता है अपने पास सब कुछ होते हुए भी कभी कहीं योड़ी सी कमियों से हम कितने अशांत हो जाते हैं। दिन-रात उस कमी की वजह से दुखी होते हैं। ऐसी घडियों में यदि हम तत्त्व अनुचिन्तन का सहारा

लेवें तो अभावपूर्ण घड़ियों में भी हम हँसते हुए रह सकते हैं। इसके नहीं रहते ही आत्म-हृत्यायें करने तक को मनुष्य उतार हो जाते हैं।

एक स्त्री कुछ दिन पूर्व घर के मामूली विवाद को लेकर आत्म-हृत्या करने का निश्चय कर अपने 4 वर्ष के बच्चे सहित कुएँ में कूद पड़ी। भाग्य से किसी ने देखा, उसे बाहर निकाला, वह तो जीवित निकली, पर उस नन्हें से बच्चे का क्या हुआ होगा आप जान गये होंगे। उसने तो सदा के लिए अपनी आँखें मूँद लीं। जब पूछ-ताछ किया गया तो पता चला बहुत ही मामूली बात पर थोड़ा विवाद हुआ था, इसके परिणामस्वरूप उसने भावावेश/क्रोधावेश में यह भूल की और सदा के लिए अपने लाडले देटे को खो दिया। यदि जीवन में तत्त्व अनुचित्तन हो तो ऐसी मामूली बातें ही क्या, हम इससे भी बड़ी-बड़ी विषम स्थितियाँ सहजता से सहन कर सकते हैं। अतः तत्त्वज्ञान हर्षविषाद, सुख-दुख जैसी हर स्थितियों में समझाव रखना सिखाता है। यह साम्यभाव ही ध्यान है जो कि आध्यात्मिक उत्थान का मार्ग है।

मूर्तिपूजा भी अनुप्रेक्षा का अंग है क्योंकि जिसकी हम भक्ति करते हैं उनके गुणों में प्रशस्त अनुराग रखते हैं। फिर चाहे वो राम हों, चाहे महावीर हो, चाहे कृष्ण हो, चाहे बुद्ध हो, चाहे ईसा-मसीह, उनके गुणों की चाह करना गुण अनुप्रेक्षा है, जो कि एक दिन हमें भी उन जैसे बनने के लिए सक्रिय कर देती है। स्वयं तीर्थकर भी इसी के सहारे से संसार-शरीर भोगों से बैरागी हुए।

वैसे तो इस विषय में आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव में, आचार्य जिनसेन आंदिपुराण में, आचार्य गुणभद्र उत्तरपुराण में, आचार्य चामुण्डराय चरित्रसार में आचार्य कुंदकुंद द्वादश अनुयेकखा में, आचार्य शिवकोटि ने भगवती आराधना ग्रन्थों में वैराग्य से भरपूर संसार का स्वरूप, शरीर की कृत्त्वता और भोगों की क्षणिकता को बतलाते हुए अनुप्रेक्षा का वर्णन किया है। इन्हीं आर्य ग्रन्थों से भावनाओं को संजोकर पूज्य उपाध्याय श्री कनकनन्दी जी ने तत्त्वानुचित्तन लिखा है। यह एक कृति आज के दुखीजनों को उनके दुखों से उभारने में पूर्णहस्तावलम्ब होगी। हम अधिक क्या कहें, इससे आप कितना लाभ लेंगे यह आप पर निर्भर है।

मुझे पूज्य शिक्षामुख्यवर्ण उपाध्याय श्री के श्रीचरण में रहने का अवसर मिलता आया है, यह आपकी ही कृपा कही जावे जो मैंने यह दो शब्द तत्त्वानुचित्तन के विषय पर लिखने का साहस किया। दिन-रात हजारों ग्रन्थों का अध्ययन करके आपने अनेकों पुस्तकों लिखी हैं। महाराज जी, हम अज्ञनों को सदा आपकी छत्र छाया बनी रहे इसी शुभ भावना के साथ आपके पूज्य पाद में।

—मुनि कु० विद्यानन्दी

विषय-सूची

अध्याय

	पृष्ठ संख्या
1. (1) वैराग्योत्पादक अनुचित्तन ।	1
(2) विचार ही हमें उठाते और ले डूबते हैं ।	14
2. (1) (1) अनित्य अनुप्रेक्षा ।	17
(2) अनित्य सौन्दर्य ।	21
(3) संसार नित्यता ।	23
(4) सांसारिक वैभव अनित्य ।	25
(5) अठारह नाते ।	26
(6) प्रण और संकल्प का महत्व ।	29
3. (1) (2) आशरण अनुप्रेक्षा ।	39
(2) अनथा: सर्वसंसारी ।	43
(3) बौद्ध धर्म में वर्णित अशरण भावना ।	47
4 (1) (3) संसार अनुप्रेक्षा ।	49
(2) सांसारिक सुख ।	56
(3) दुःख सागरः संसार ।	60
(4) नरकः दुखातिरेक ।	63
(5) पशुगतिः दुःख की राशि ।	63
(6) मनुष्यः दुख की खान ।	64
(7) देवगतिः मानसिक दुर्गति ।	67
(8) सुख सम्पत्तिः पंचमगति ।	67
5. (1) (4) एकत्व अनुप्रेक्षा ।	68
6. (1) (5) अन्यत्वानुप्रेक्षा ।	72
7. (1) (6) अशुचित्वानुप्रेक्षा ।	74
(2) लौकिक पवित्रता ।	74
(3) चारों गति अशुभ ।	75
(4) धन अशुभ ।	76
(5) कामसुख अशुभ ।	76
(6) आहार अशुभ ।	77
(7) शरीर अशुभ ।	77

(8) विश्व में शुभाशुभ । 77
(9) पवित्रता ही शक्ति है । 80
8. (1) (7) आस्त्रवानुप्रेक्षा । 86
9 (1) (8) संवर अनुप्रेक्षा 91
(2) संवरोपाय ।	... 92
(3) भावना और विचार से सफलता कैसे मिलती है ।	... 94
10. (1) (9) निर्जरा अनुप्रेक्षा । 103
11. (1) (10) लोकानुप्रेक्षा ।	... 107
(?) लोक के प्रभेद । 108
(3) लोक का स्वरूप । 109
12. (1) (11) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा । 110
13. (1) (12) धर्मतत्वानुप्रेक्षा । 115
(2) भावना (इच्छाशक्ति) की महत्ता । 119

अध्याय

1

वैराग्योत्पादक अनुचिन्तन

यादशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादशी ।

यह प्रसिद्ध नीति वाक्य अनेक रहस्य से मरा है। जिसकी भावना जिस प्रकार होती है उसकी कार्यसिद्धि भी तदनुकूल होती है। 'As you think so you become' 'जैसे सोचोगे वैसे बनोगे'। खराब विचार करोगे तो खराब बनोगे, उत्तम विचार करोगे तो उत्तम बनोगे।

भावना भव नाशनी भावना भव वर्द्धनी ।

भावना से अनन्त दुःख के कारणभूत भव वृद्धि होती है एवं भावना से संसार विलय को प्राप्त हो जाता है। नीति में अनेक नीति वाक्य प्रसिद्ध है—

“जैसी इष्ट वैसी सृष्टि ।”

“जैसी मति वैसी गति ।”

‘जई मई तई गई होई ।’

“जैसा विचार वैसा संसार ।”

“जैसी बुद्धि वैसी सृष्टि ।”

इसीलिये प्राचीन महर्षियों ने अनुभव की कसीटी पर परीक्षण-निरीक्षण करके कहा है—

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।

अर्हद्वयानाविष्टो भावार्हन स्यात् स्वयं तस्मात् ॥

जिस परिणाम से यह आत्मा भावना को भाता है वह उस रूप में तन्मय होकर परिणत हो जाता है। जिस समय में अहंत् सर्वज्ञ वीतराग भगवान् का ध्यान करता है वह स्वयं अहंत् स्वरूप परिणत हो जाता है।

जैसे एक लौहखण्ड अन्य एक चुम्बक से धर्षण को प्राप्त कर या विद्युत् शक्ति से भावित होकर चुम्बक रूप में परिणमन करने लगता है उसी प्रकार जिस भावना रूपी शक्ति से भावित होता है वह उस रूप में परिणमन हो जाता है।

जैसे अग्नि से भावित होकर लौहखण्ड अग्नि के समान उत्पत्त हो जाता है अथवा वर्फ से भावित होकर ठण्डा हो जाता है। उसी प्रकार परिणमनशील जीव भी उत्तम भावना से भावित होकर उच्च हो जाता है और नीच भावना से भावित होकर नीच हो जाता है। भारतीय नीतिकारों ने कहा है—

उन्नतं मानसं यस्य तस्य भाग्यं समुन्नतम् ।
नोन्नतं मानसं यस्य तस्य भाग्यं मसमुन्नतम् ॥

जिसका मानसिक स्थिर उन्नत, उदार पवित्र है उसका भाग्य उन्नत है जिसका मानसिक स्थिर कुत्सित, अपवित्र और नीच है उसका भाग्य भी दीन, हीन है। धर्म ज्ञान एवं विज्ञान में कहा है—

भावः प्राणशक्ति स्थात् भावः विद्युत् चुम्बकम् ।
भावः रहितेन शिवः शब्द भवति निदानम् ॥

भाव ही प्राण शक्ति है। भाव विद्युत के समान एवम् चुम्बक के समान शक्ति-शाली है। भाव से रहित शिव (जीव) शब्द (जड़वत) हो जाता है।

भावेनौषधि गुण कर स्वर्णः भवति च शुद्धः ।

भावेन अशुद्ध जीवः शुद्ध भवति तेन सिद्ध ॥

भावना देने से ओषधि गुणकारी होती है, अग्निरूपी भावना से स्वर्ण पाषाण शुद्ध स्वर्ण हो जाता है जिससे वह सिद्ध बन जाता है।

भावेन स्वर्णः नरकः भावेन भवति सिद्धः ।

भावेन शत्रुः अहित विषं, भावेन मित्रः कल्पवृक्षः ॥

अशुभभाव से नरक, शुभभाव से स्वर्ण और शुद्ध भावना से जीव सिद्ध बन जाता है। कुभावना जीव के लिये शत्रु है, विष के समान अहितकारी है, शुभ भावना मित्र है, कल्पवृक्ष के समान फलदायी है।

कुभाव सहित आत्मा स्वयमेव स्वयं शत्रुः ।

उत्तमं भाव सहित स्वयमेव स्वयं मित्रः ॥

कुभावना सहित आत्मा स्वयं-स्वयं का शत्रु है, उत्तम भावना सहित जीव स्वयं का मित्र है।

स्वयं हित वत्स्य स्वयमेव स्वयं गुरुः ।

कुपथगामिनि आत्मा स्वयमेव स्वयं यमः ॥

स्वयं जब स्वयं को हितकर मार्ग में प्रवृत्त करता है उस समय में स्वयं-स्वयं-का गुरु है। कुपथगामिनी आत्मा स्वयं के लिये स्वयं यम है।

आत्मजयी जगजजयी स्व शत्रुः स विश्वामित्रः ।

आत्मजयी सुखभोगी परजयेव दुःखदम् ॥

जो आत्मा विजयी है वह जगत विजयी है और स्वयं के लिये मित्र है। जो स्वयं के लिये स्वयं शत्रु है वह विश्वामित्र (विश्व+आमित्र=विश्व के लिये

शत्रु) है जो आत्मविजयी है वह सुख का भोग करता है, पराजय दुःखदायक है।

भाव को प्रधानता प्रदान करते हुए तत्त्ववेत्ताओं ने कहा है—

भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वं कर्मसु ।

अन्यथा लिङ्गते कान्ता अन्यथा लिङ्गयते सुता ॥

भाव ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। सम्पूर्ण कार्य में भाव की प्रमाणता सर्वोपरि है एवं पुरुष स्वस्त्री (भार्या) को आलिङ्गन करता है एवम् पूर्ण योवन को प्राप्त स्वकन्या को आलिङ्गन करता है परन्तु जिस समय में अपनी स्त्री को आलिङ्गन करता है उस समय मन में तो कामभाव से सहित है किन्तु जिस समय अपनी कन्या से आलिङ्गन करता है उस समय स्नेह वात्सल्य भाव है इसीलिये बाह्य क्रिया समान होने पर भी अन्तरंग परिणाम भिन्न-भिन्न होने से दोनों क्रिया में महत अन्तर है। उपनिषद् में कहा है—

चित्तमेव हि संसार स्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।

यच्चित्त स्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनाम् ॥22॥

चित्त (विचारधारा) ही संसार है इसीलिये विचारों का प्रयत्नपूर्वक शोधन करना चाहिये जिसका चित्त जैसा होता है उसको उसी प्रकार प्रतिभाषित होता है। यह अत्यन्त गूढ़ रहस्यपूर्ण सनातन सिद्धान्त है।

चित्तस्य ही प्रसादेन हृन्ति कर्म शुभाशुभम् ।

प्रसन्नात्मात्मानि स्थित्वा सुखभव्यमशनुते ॥23॥

चित्त के प्रसाद से शुभाशुभ कर्म नष्ट होते हैं। आत्मा में ही स्थिर होकर आत्मा से आत्मा का प्रसन्न अनुभव करने से अनन्त अव्यय सुख का अनुभव होता है।

समासकं यदा चित्त जन्तो विषय गोचरे ॥

यच्चेवं ब्रह्माणि स्यात्तत्को न मुच्यते बन्धनात् ॥24॥

जीवों का चित्त विषय-वासना-काम-सुख में जितना रमायमाण होता है उतना यदि ब्रह्म में (आत्मा में) रमायमाण हो जाता तो क्या दुःखी संसारी जीव दुःखों को उत्पादन करने वाले बन्ध से मुक्त होकर शाश्वतिक सुख अनुभव नहीं करता? अर्थात् जितनी आसक्ति विषय में है उतनी आसक्ति यदि आत्मा में होगी तो वह निश्चित रूप से समस्त बन्धनों से विमुक्त हो जायेगा। इसीलिये भारतीय अनुभवी महर्षियों ने यथार्थ से कहा है—

‘मन एवं मनुष्यानां कारणं बन्धमोक्षयोः ।’

मन ही मनुष्यों के लिये बन्ध एवं मोक्ष के लिये कारण है।

गोस्वामी तुलसीदास ने यथार्थ से कहा है—

जाकी रही भावना जैसी ।
प्रभु सूरति देखो तिन्ह तैसी ॥मानस

जिस प्रकार अन्तरंग में भावधारा तरंगित होती है तदनुकूल बाहु वस्तु भी प्रतिभाषित होती है । जैसे पीलिया रोग से आक्रान्त रोगी मिट्टी, पत्थर आदि में भी पीले रंग का दर्शन करने के कारण उसको स्वर्ण समान पीला प्रतिभाषित होता है । किन्तु पीलिया रोग नष्ट होने के पश्चात् उसको यथावत् प्रतिभाषित होता है । जिस वर्ण का चश्मा परिधान करते हैं सम्पूर्ण वस्तु उस वर्ण स्वरूप ही प्रतिभाषित होती है । नीतिकारों ने कहा है—

“प्रद्वेषों बहुभानो वा संकल्पादुपज्ञायते ।”

प्रद्वेष या अतिसम्मान की भावना मन के संकल्पों के अनुसार ही उत्पन्न होती है । एक पाश्चात्य विचारक ने भी कहा है—

We see things not as they are but as we are.

हम किसी वस्तु को उसके यथार्थ रूप में नहीं बल्कि उस रूप में देखते हैं जिस रूप में हम स्वयं होते हैं ।

Beauty lives in the eye of the beholder.

“सौंदर्यं देखने वाले की आँख में पहले से ही रहता है ।” यह सर्व अनुभव सत्य है कि विचारों को सरस या नीरस, आशामय या निराशामय बनाने वाला हमारा अन्तर्मन ही होता है, जिससे हमारे स्वाभाविक एवम् उपार्जित गुण संचित होकर हमारे इटिकोण को बनाते हैं । वही हमारे सम्पूर्ण चरित्र और व्यक्तित्व का आधार होता है । वही हमारा साधना क्षेत्र है । (आत्मविकास—आनन्द कुमार)

भावना की शक्ति उपादेयता के बारे में बताते हुए कविवर दौलतराम जी ने छहड़ाला में कहा है—

मुनि सकलवती बड़भागी भवभोगनतं वैरागी ।

वैराग्य उपावन माई, चिन्तं अनुप्रेक्षा भाई ॥1 पंचमदाल॥

हे भाई ! महाव्रती मुनिराज बड़े भाग्यवान हैं वे संसार और भोगों से विरक्त हो जाते हैं । वे मुनिराज वैराग्य को उत्पन्न करने के लिये माता के समान वारह भावनाओं का चितवन करते हैं ।

इन चिन्तत सम सुख जामै जिमि उचलन पवन के लागे ।

जब ही जिय आत्म जानै तब ही जिय शिव सुख ठानै ॥2॥

जैसे हवा के लगने से अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है, वैसे ही भावनाओं का चितवन करने से समतारूपी सुख जागृत हो जाता है । जब यह जीव अपनी आत्मा के स्वरूप को पहिचान लेता है उसी समय मोक्ष सुख को पा लेता है ।

ताश्च संवेग वैराग्यम् प्रशम सिद्धये ।

आलानिता मनः स्तम्भे मुनिभि मोक्तुमिच्छुभिः ॥

भावनाएँ (अनित्यादि बारह भावनाएँ) संवेग, वैराग्य, यम, प्रशम के सिद्धि के लिये भाना चाहिये । जो मुमुक्षु महामुनिश्वर है वे अत्यन्त चंचल मन को भावना रूपी दृढ़ स्तम्भ में बंध देते हैं अर्थात् भावनाओं से भावित आत्मा में संवेग, वैराग्य, तितिक्षा प्रशम आदि उत्तम गुण प्रगट करते हैं । मन निर्मल, विषय-वासना से रहित होकर प्रशमित स्थिर हो जाता है ।

ज्ञानार्णव में ध्यान, विज्ञान के महान् तत्त्वज्ञ जैनाचार्य शुभचन्द्रजी ने भावनाओं के महत्त्व प्रतिपादन करते हुए निम्न प्रकार कहा है—

दीद्यन्नाभिरयं ज्ञानी भावनाभिनिरन्तरम् ।

इहैवाध्योत्यनात्मू सुखमत्यक्षमक्षयम् ॥1॥

इन भावनाओं के साथ निरन्तर क्रीड़ा करने वाला—उनका बार-बार, चिन्तन करने वाला यह ज्ञानी जीव यहाँ पर ही निराकूल व अविनश्वर अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त कर लेता है ।

विध्यति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम् ।

उन्मिषति बोध द्विपो हृषि पुंसा भावनाभ्यासात् ॥192॥

इन भावनाओं के अभ्यास से जीवों की कषाय रूपी अग्नि शान्त हो जाती है, राग नष्ट हो जाता है, अज्ञान रूप अन्धकार विलीन हो जाता है तथा हृदय में ज्ञानरूप दीपक विकसित होता है ।

एता द्वादश भावना: खलु सखे सख्येऽपवार्थिय ।

स्यस्याः संगमलालसंर्धटत्यितुं मैत्रं प्रयुक्ता बुधैः ।

एतामु प्रगुणीकृतामु नियतं मुक्त्यज्ञना जायते ।

सामन्द्रा प्रणय प्रसन्नहृदया योगीश्वरानां मुदे ॥193॥

हे मित्र ! ये बार भावनाएँ निश्चय से मुक्ति रूपी लक्ष्मी की सहचारी हैं—उसको संयोग कराने वाली हैं । इसीलिये उसके संयोग के इच्छुक विद्वानों को उत्तम भावनाओं के साथ मित्रता का व्यवहार करना चाहिये—उनका अनुरागपूर्वक पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिये । इन भावनाओं के अनुकूल कर लेने पर योगीन्द्रों को आनन्द से परिपूर्ण वह मुक्तिरूप स्त्री प्राप्त होती है जो प्रसन्न हृदय से प्रेम करती हुई उनके हृष्ट का कारण होती है ।

सर्व धर्म का सार है सर्व चरित्र का सार ।

सर्व ज्ञान का सार है तत्त्वों का विचार ॥

जो सब्द संगमुक्तो अवध्यमणो अप्यणो सहावेण ।

जाणदि पस्सदि आदं सगचरियं चरिदि जीओ ॥122॥

(तिं० प० अ० ९)

जो अन्तरंग-बहिरंग सर्व रंग से रहित और अनन्यमन अर्थात् एकाग्रचित्त होता हुआ अपने चैतन्य स्वभाव से आत्मा को जानता व देखता है वह जीव आत्मीय चरित्र का आचरण करता है ।

ज्ञाणाभिम भावणा खलु कादवा दंसणे चरितेय।
ते पुण आदा तिथिं वि तम्हा कुण भावणं आदे ॥

ज्ञान, दर्शन और चरित्र में भावना करनी चाहिये। चूंकि वे तीनों (दर्शन, ज्ञान और चरित्र) आत्मस्वरूप हैं इसलिये आत्मा में भावना को करो।

अहमेकको खलुसुद्धो दंसणाणपगो सदारुबी ।
ज वि अथिय मज्जिं किंचि वि अणं परमाणुमेत्तं पि ॥

मैं निश्चय से सदा एक शुद्ध, दर्शन ज्ञानात्मक और अरूपी हूँ। मेरा परमाणु मात्र भी अन्य कुछ नहीं है।

जात्यि मम कोई भोहो बुज्जो उवजोगमेवमहमेगो ।
इई भावणाहि जुतो खवेह दुट्ठट्कम्मार्ण ॥25॥

मोह मेरा कोई नहीं है, एक ज्ञान दर्शनोपयोग रूप में ही मैं ज्ञानने योग्य हूँ, ऐसी भावना से युक्त जीव दुष्ट अष्ट कर्मों को नष्ट कर देता है।

जाहं होमि परेसिण मे परे संतिणाणमहमेकको ।
इदि जो ज्ञायदि ज्ञाणे सो मुच्चइ अट्ठकम्मर्हि ॥26॥

न मैं पर पदार्थों का हूँ और न पर पदार्थ मेरे हैं, मैं तो ज्ञान स्वरूप अकेला ही हूँ। इस प्रकार जो ध्यान में चिन्तन करता है वह आठ कर्मों से मुक्त होता है।

चित्तविरा मे विरमंति इंदिया सु विरदेसु ।
आदसहावभिम रदी होदि पुडं तस्स णिव्वर्ण ॥27॥

चित के शान्त होने पर इन्द्रियाँ शान्त होती हैं और उन इन्द्रियों के शान्त होने पर आत्मस्वरूप में रति होती है। पुनः इससे स्पष्टतया निर्वाण प्राप्त होता है।

जाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसि ।
एवं खलु जो भाओ सो पावइ सासयं ठाणं ॥28॥

न मैं देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण ही हूँ। इस प्रकार जो भाव है वह शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है।

‘देहो व मणो वाणी पोगल दब्बं परोति णिहिट्ठं ।
पोगलदब्बं पि पुणो पिडो परमाणु दब्बार्ण ॥29॥

देह के समान मन और वाणी पुदगल द्रव्यात्मक पर हैं ऐसा कहा गया है। पुदगल द्रव्य भी परमाणु द्रव्यों का पिण्ड है।

जाहं पोगलमहयो ण वे मयापुगला कुदा पिंड ।
तम्हा हि ण देहोहं कत्ता वा तस्स देहस्प ॥30॥

न मैं पुदगलमय हूँ और न मैंने उन पुदगलों को पिण्ड रूप (स्कन्ध) किया है। इसलिये न मैं देह हूँ और न उस देह का कर्ता ही हूँ।

एवं ज्ञाणप्वाणं दंसणभूदं अदिविष्यमहस्यं ।

ध्रुवममलमणालंबं भावे मं अप्ययं सुदं ॥31॥

इस प्रकार ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय, महार्थ, नित्य, निर्मल और निरालम्ब शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना चाहिये।

जाहं होमि परेसि ण मे परे संति ज्ञाणमहमेषको ।

इदि जो ज्ञायदि ज्ञाणे सो अप्याणं हवदि ज्ञादो ॥32॥

न मैं पर पदार्थों का हूँ और न पर पदार्थ मेरे हैं, मैं तो ज्ञानमय अकेला हूँ। इस प्रकार ध्यान में आत्मा का जो चिन्तन करता है वह ध्याता है।

जो एवं जाणिता ज्ञादि परं अप्ययं विसुद्धप्वा ।

अणुबममपारमदिसय सोक्खं पावेदि सो जीओ ॥33॥

जो विशुद्ध आत्मा इस प्रकार ज्ञानकर उत्कृष्ट आत्मा का ध्यान करता है वह जीव अनुपम और अपार विषयक वर्वात् अनस्तचतुष्टयात्मक सुख को प्राप्त करता है।

जाहं होमि परेसिण मे परे जात्यिमज्जमिह किंचि ।

एवं खलु जो भावइ सो पावइ सब्बकल्लाण ॥34॥

न मैं पर पदार्थों का हूँ और न पर पदार्थ मेरे हैं, यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है, इस प्रकार जो भावना भाता है वह सब कल्याण को पाता है।

उड्ठोधमज्जलोए ण मे परे जात्यि मज्जमिह किंचि ॥

इह भावणाहि जुतो सो पावइ अक्खयं सोक्खं ॥35॥

यहाँ ऊर्ध्वं लोक, अधोलोक और मध्यलोक में मेरे पर पदार्थ कोई नहीं हैं, यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की भावनाओं से युक्त वह जीव अक्षय सुख को पाता है।

मदमाणमावरहिदो लोहेण विवज्जिदो य जो जीवो ।

जिस्मलसहावजुत्तो सो पावइ अक्खयं ठाणं ॥36॥

जो जीव मद, मान व माया से रहित, लोभ से वर्जित और निर्मल स्वभाव से युक्त होता है वह अक्षय स्थान को पाता है।

परमाणु पमाणं वा मुच्छा देहदिएसु जस्सपुणो ।

सो णवि जाणदि समयं समयं सगस्स सवागमधरोवि ॥37॥

जिसके परमाणु प्रमाण भी देहादिक में राग हैं वह समस्त आगम का धारी होकर भी अपने समय को नहीं जानता है।

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं देहेसु कुणदि मा किंचि ।

देह विभिन्नो अप्या ज्ञायवो इंदियादीदो ॥38॥

देह में स्थित, देह से कुछ कम, देह से रहित, शुद्ध देहाकार और इन्द्रियातीत आत्मा का ध्यान करना चाहिये ।

ज्ञाणे जदि जियादा पणादोणावभासदे जस्त ।

ज्ञां होदि जतं पुण जाण पमादो हु मोह मुच्छावा ॥40॥

जिस जीव के ध्यान में यदि ज्ञान से निज आत्मा का प्रतिभास नहीं होता है तो वह ध्यान नहीं है । उसे प्रमाद मोह अथवा मूर्छा ही जानना चाहिये ।

गयसित्यमूसगत्भायारो रयणत्यदिगुणजुतो ।

जिय आदा ज्ञायत्वो खग्रहिदो जीवधणदेसो ॥41॥

मोम से रहित मूषक के (आभ्यन्तर) आकार के रत्नत्रयादि गुणों से युक्त अविनश्वर और जीवधनदेशरूप निज आत्मा का ध्यान करना चाहिये ।

जो आदभावणमिणं णिच्युबजुतो मुणी समाचरदि ॥

सो सब्बदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥42॥

जो साधु नित्य उद्योगशील होकर इस आत्मभावना का आचरण करता है वह थोड़े समय में ही सब दुःखों से छुटकारा पा लेता है ।

कस्मे गोकम्ममिय अहमिदि अहयं च कम्मणोकम्मं ।

जायदि सा खलु बुद्धि सो हिडइ गरुव संसारं ॥43॥

कर्म और नो कर्म में 'मैं हूँ' तथा मैं कर्म नो कर्मरूप हूँ, इस प्रकार जो बृद्धि होती है उससे यह प्राणी महान संसार में बूमता है ।

जो खवदि मोहकम्मो विसय विरत्तो मणो णिरुभित्ता ।

समवटिठदो सहावो सो मुच्चइ कम्मणिगलेहि ॥44॥

जो मोह कर्म (दर्शन मोह और चारित्रमोह) को नष्ट कर विषयों से विरक्त होता हुआ मन को रोककर स्वभाव में स्थित होता है वह कर्मरूपी संकटों से छूट जाता है ।

पथिडिठदिअणुभागप्पदेस बंधेहि वजिजओ अप्पा ।

सो हं इदि चित्तेज्जो तथेवय कुणहथिर भावं ॥45॥

जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध से रहित आत्मा है वही मैं हूँ, इस प्रकार चित्तन करना चाहिये और उसमें ही स्थिर भाव को करना चाहिये ।

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावो सुहमइयो ।

केवलविरियसहासो सो हं इदि चित्तए णाणी ॥46॥

जो केवल ज्ञान व केवल दर्शन स्वभाव से युक्त सुख स्वरूप और केवल वीर्य स्वभाव है वही मैं हूँ, इस प्रकार ज्ञानी जीव को विचार करना चाहिये ।

जो सब्बसंगमुक्खो ज्ञायदि अथवा मण्याण अप्पा ।

सो सब्बदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥47॥

जो जीव सर्व संग रहित होकर अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है वह थोड़े ही समय में समस्त दुःखों से छुटकारा पा लेता है ।

जो इच्छसि णिस्सरिदु संसारमहणवस्य रुदस्य ।

सो एवं जाणिता परिज्ञायदि अप्यवं सुद्धं ॥48॥

जो भयानक संसार रूपी महासमुद्र से निकलने की इच्छा करता है वह इस प्रकार जानकर शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है ।

पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियन्ती य ।

णिदणगरुहसोही लभति णियादमावणए ॥49॥

जिन आत्मा से भावना प्रतिकमण, प्रतिसरण, प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दन, ग्रहण और शुद्धि को प्राप्त करते हैं ।

जो णिहदमोहगंडी रायपदो से वि खविय सामणे ।

होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥50॥

जो दर्शन मोह रूप अन्यि को नष्ट कर श्रमण अवस्था में राग-द्रेप का क्षण करता हुआ सुख-दुःख में समान हो जाता है वह अक्ख सुख को प्राप्त करता है ।

ण जहदि जो दु ममत्तं अहं ममेवं ति देहदविणेसु ।

सो मूढो अणणाणी वज्जदि दुठठठक्कम्मेहि ॥51॥

जो देह और धन में क्रमणः 'अहम्' और 'ममेद' इस प्रकार के ममत्व को नहीं छोड़ता है वह सूखं, अज्ञानी, दुष्ट आठ कर्मों से बँधता है ।

पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो ।

महमोहेण य पावं तम्हा पुण्णो विवज्जेज्जो ॥52॥

चूंकि पुण्ण से विभव, विभव से मद, मद से मतिमोह और मतिमोह से पाप होता है इसलिये पुण्ण को भी छोड़ना चाहिये ।

परमद्व बाहिरा जे ते अणाणेण पुण्णमिच्छति ।

संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता ॥53॥

जो परमार्थ बाहर हैं वे संसार गमन और मोक्ष के हेतु को न जानते हुए अज्ञान से पुण्ण की इच्छा करते हैं ।

णहु मण्णदि जो एवं णत्थ विसे सोति पुण्णापावाणं ।

हिंडदि घोरमपारं संसारं मोह संछणो ॥54॥

पुण्ण और पाप में कोई भेद नहीं है इस प्रकार जो नहीं मानता है वह मोह से युक्त होता हुआ घोर एवं अपार संसार में बूमता है ।

मिच्छत्तं अणाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।

सो णिच्छयेण जोई, ज्ञायव्वो अप्यवं सुद्धं ॥55॥

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्ण इनका मन, वचन, काय तीन प्रकार से त्याग करके योगी को निश्चय से शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिये ।

जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तहा सुद्धो, हवदि हु परिणाम सद्भावो ॥५६॥

परिणाम-स्वभावरूप जीव जब शुभ अथवा अशुभ परिणाम से परिणमता है तब शुभ अथवा अशुभ (रूप) होता है और जब शुद्ध परिणाम से परिणमता है तब शुद्ध होता है ।

धर्मेण परिणदिष्या, अष्ट्या जह सुद्ध-संपज्ञोग-जुदो ।
पावइ गिर्वाण-सुह, सुहोवजुतो य सगग-सुह ॥५७॥

धर्म से परिणत आत्मा यदि शुद्ध उपयोग से युक्त होता है तो निर्वाण-सुख को और शुभोपयोग से युक्त होता है तो स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है ।
असुहोदण आदा, कुणरो तिरियो भवीय गेरइयो ।

दुख सहस्रेहि सदा, अभिधुदो भमदि अच्चतं ॥५८॥

अशुभोदय से यह आत्मा कुमानुष, तिर्यच्च और नारकी होकर सदा आचिन्त्य हजारों दुःखों से पीड़ित होकर संसार में अन्यन्त दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता है ।

अदिसयमाद-समेतं, विसयाति अणोवम मणतं ।
अच्चुचिछणं च सुह, सुद्धवजोध्य-सिद्धाण ॥५९॥

शुद्धोपयोग से उत्पन्न सिद्धों को अतिशय, आत्मोत्थ, विषयातीत, अनुपम अनन्त और विच्छेद रहित सुख प्राप्त होता है ।

रागादि-संग-मुक्को, वहइ मुणी सेय-ज्ञाण-ज्ञाणेण ।
कर्मिधण-संधाय-अणेय-भव-संचियं खिण ॥६०॥

रागादि परिग्रह से रहित मुनि शुक्ल ध्यान नामक ध्यान से अनेक भवों से संचित किये हुए कर्मरूपी इंधन के समूह की शीघ्र जला देता है ।

जो संकप्प-वियप्तो, तं कर्मं कुणदि असुह-सुह-जणणं ।
अप्पा-सभाव-लद्दी, जाव ण हियये परिफुरइ ॥६१॥

जब तक हृदय में आत्मस्वभाव की उपलब्धि प्रकाशमान नहीं होती तब तक जीव संकल्प-विकल्प रूप शुभ-अशुभ को उत्पन्न करने वाला कर्म करता है ।

बैधाणं च सहावं, विजाणिदु अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो रज्जदि, सो कर्म विमोक्षणं कुणइ ॥६२॥

जो बन्धों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर बन्धों में अनुरूप्यायमान नहीं होता है, वह कर्मों का मोक्ष (क्षय) करता है ।

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोहं पि ।
अप्पाणी ताव दुसो, विसयादिसु बटृते जीवो ॥६३॥

जब तक जीवात्मा और आत्मव इन दोनों के विशेष अन्तर को नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी विषयादिकों में प्रवृत्त रहता है ।

ण वि परिणमदि ण गेणहदि, उप्पज्जदि ण परदव्व-पज्जाए ।
णाणी जांबतो विहु, पोगल-दव्वं अणेय-विहं ॥६४॥

ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के पुदगल को जानता हुआ भी परदव्यपर्याय से नहीं परिणमता है, न उसे ग्रहण करता है और न उस रूप उत्पन्न होता है ।

जो पर दव्वं तु सुहं, असुहं वा मणदे विमूढ-मई ।
सो मूढो अणाणी, बज्जदि बुद्धु-कम्मेहि ॥६५॥

जो मूढ-मति परदव्य को शुभ अथवा अशुभ मानता है वह अज्ञानी दुष्ट आठ कर्मों से बंधता है ।

सिद्धों का सुख

गिरुवम-रुवा णिट्ठय कज्जा णिज्जा णिरंजणा णिरुजा ।
णिमल-बोधा सिद्धा, णिरवज्जा णिककला सगाधारा ॥१७॥

तिं प० भाग ३ पृष्ठ ६२४

लोयालोय-विभागं, तम्मिट्ठय सव्व-दव्व-पज्जायं ।

तिय काल गदं सव्वं, जांणति हु एक-समएण ॥१८॥

अनुपम स्वरूप से संयुक्त, कृतकृत्य, नित्य, निरंजन, निरोग, निर्वद्य, निधाप, स्व आधार और निर्मल ज्ञान से युक्त सिद्ध परमेष्ठी लोक और अलोक के विभाग को, लोक स्थित सर्व द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायों को एक ही समय में जानते हैं ।

जाइ, जरा, मरणेहि, णिमुक्का णिमला अणक्खयरा ।
अवगद-वेदा सव्वे, अणंत-बोहा अणंत-सुहा ॥१९॥

किद किच्चा सव्वण्हु, सत्ताद्यादा सदा-सिवा सुद्धा ।

परमेष्ठी परम सुही, सव्व गया सव्व-दरिसीय ॥२०॥

अववावाहमणंतं, अववायमणुवमर्णिदियं सोक्खं ।

अप्पुट्ठं भुंजति हु, सिद्धा सदा-सदा सव्वे ॥२१॥

जन्म, जरा और मृत्यु से विनिर्मुक्त, निर्मल, अनक्षर (शब्दातीत) वेद से रहित, अनन्तज्ञानी, अनन्तसुखी, कृतकृत्य, सर्वज्ञ, स्वसत्ता से सब कर्मों का धात करने वाले, सदाशिव, शुद्ध, परम पद में स्थित, परम सुखी, सर्वगत, सर्वदर्शी ऐसे सर्व सिद्ध अव्यावाध, अनन्त, अक्षय, अनुपम और अतीन्द्रिय सुख का निरन्तर भोग करते हैं ।

सिद्धत्व के कारण

जह चिर-संधिचर्मिधणमणलो पवणाहदो लहुँ वहइ ।

तह कर्मिधणमहियं, खणेण ज्ञाणाणलो दहइ ॥२२॥

तिं प० तृतीय खण्ड पृ० ६२५

जिस प्रकार चिर-सञ्चित इंधन को पवन से आहत अग्नि शीघ्र ही जला देती

है, उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि बहुत भारी कर्मरूपी इंधन को ध्वन-मात्र में जला देती है।

जो खविद-मोह-कल्पुसो, विषय-विस्तो मणो णिरुभित्ता ।

समवट्टिवो सहावे, सो पावइ णिव्वुदि सोक्खं ॥22॥

जो दर्शन मोह और चारित्र मोह को नष्ट करके विषयों से विरक्त होता हुआ मन को रोककर आत्म स्वभाव में स्थित होता है वह मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

जस्स ण विजज्जदि रागो, दोसो मोहो व जोग परिकम्मो ।

तस्स सुहासुह-दहण-ज्ञाणमओ जायदे अग्णी ॥24॥

जिसके राग, द्वेष, मोह और योग-परिकर्म (योग परिणति) नहीं हैं उसके शुभाशुभ (पाप-पुण्य) को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि उत्पन्न होती है।

इंसण णाण समग्रं, णाणं णो अण-दव्व-संसत्तं ।

जायदि णिजजर-हेदूं-सभाव-सहिदस्स साहुस्स ॥25॥

शुद्ध स्वभाव युक्त साधु का दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण ध्यान निर्जरा का कारण होता है, अन्य द्रव्यों से संतत वह ध्यान निर्जरा का कारण नहीं होता।

केवलणाण दिणेसं-चोत्तीसादिसय-मूदि-संपणं ।

अप्प-सस्त्रवम्मि छिदं, कथु-जिणेसं णमंसामि ॥70॥

तिं० प० तृतीय खण्ड पृ० 634

जो केवलज्ञान रूप प्रकाशयुक्त सूर्य है, चौंतीस अतिशय रूप विभूति से सम्पन्न है और आत्मस्वरूप में स्थित है, उन कुन्तु जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

संसारणव-महणं तिहुवण-भवियाणसोक्ख-संजणणं ।

संदरिसिय-सयलत्यं, अर-जिणणाहं णमंसामि ॥71॥

जो संसार-समुद्र का मंथन करने वाले हैं और तीनों लोकों के भव्य जीवों को मोक्ष के उत्पादक हैं तथा जिन्होंने सकल पदार्थ दिखला दिये हैं, ऐसे अरह जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

भव्व-जग-मोक्ख-जणणं, मुणिदं-देर्विद-पणद-पथ-कमलं ।

अप्प-सुहं संपं, महिल-जिणेसं णमंसामि ॥72॥

जो भव्य जीवों को मोक्ष-प्रदान करने वाले हैं, जिनके चरण-कमलों में मुनीन्द्रों और देवेन्द्रों ने नमस्कार किया है, आत्मसुख से सम्पन्न ऐसे मलिलनाथ जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

णिठु-वियद्वाइ-कम्मं, केवलणाणेण दिठ्ठ सयलत्यं ।

णमह मुणिसुव्याएसं, भवियाणं सोक्ख देसयरं ॥73॥

जो धातिकर्म को नष्ट करके केवलज्ञान से समस्त पदार्थों को देख चुके हैं और जो भव्य जीवों को सुख का उपदेश करने वाले हैं, ऐसे मुनिसुव्रत स्वामी को नमस्कार हो।

घण-धाइ-कम्म-महणं, मुणिदं-देर्विद-पणद-पथ कमलं ।

पणमह णाणि-जिणणाहं, तिहुवण-भवियाण सोक्खयरं ॥74॥

घन-धाति-कर्मों का मन्थन करने वाले मुनीन्द्र और देवेन्द्रों से नमस्कृत चरण-कमलों से संयुक्त तथा तीनों लोकों के भव्य जीवों के सुखदायक, ऐसे नमि जिनेन्द्र को नमस्कार करो।

इंद सय-णमिद-चरणं, आद-सस्त्रवम्मि सध्वकाल-गदं ।

इंदिय-सोक्ख-विमुक्तं, णोमि-जिणेसं णमंसामि ॥75॥

सौ इन्द्रों से नमस्कृत चरण वाले, सर्व काल आत्मस्वरूप में स्थित और इन्द्रिय सुख से रहित ऐसे नेमि जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

कमठोपसाग-दलणं तिहुवण-भवियण-मोक्ख देसयरं ।

पणमह पास जिणेसं, धाइ-चउबकं विणासयरं ॥76॥

कमठकृत उपसर्ग को नष्ट करने वाले तीनों लोकों सम्बन्धी भव्यों के लिये मोक्ष के उपदेशक और धाति चतुष्टय के विनाशक पार्श्व जिनेन्द्र को नमस्कार करो।

एस सुरासुर-मणुसिद-वंदिदं धोद-धाइ-कम्म-मलं ।

पणमामि वड़हमाणं, तिथं धम्मस्स कत्तारं ॥77॥

जो इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्तियों से वंदित, धातिकर्म रूपी मल से रहित और धर्मतीर्थ के कर्ता हैं उन वद्धमान तीर्थकर को मैं नमस्कार करता हूँ।

पंच-परमेष्ठी को नमस्कार

जयउ जिण वरिदो, कम्म-बंधा अबद्वो,

जयउ-जयउ सिद्धो सिद्धि-मग्गो समग्गो ।

जयउ-जय-अणंदो, सूरि सत्थो पसत्थो,

जयउ जदि वदीणं उग-संघो अविघो ॥78॥

कर्म वंध से मुक्त जिनेन्द्र जयवन्त होवें, समग्र सिद्धि-मार्ग को प्राप्त हुए सिद्ध भगवान् जयवन्त होवें, जगत् को आनन्द देने वाला प्रशस्त सूरि-समूह जयवन्त होवें और विघ्नों से रहित साधुओं का प्रबल संघ लोक में जयवन्त होवें।

भरत क्षेत्र गत 24 जिनों को नमन

पणमह चउबीस-जिणे, तित्ययरे तत्य भरह रक्तेम्भि ।

सव्याणं भव दुक्खं, छिदंते णाण परसेहि ॥79॥

जो ज्ञान-रूपी पणु से सब भव्य जीवों के दुःख को छेदते हैं, उन भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए चौबीस तीर्थकरों को नमस्कार करो।

पण मह जिणवर-वंसह, गणहर-वसहं तहेव गुणहर-वसहं ।

दुसह-परीसह-वसहं, जदिवसहं धम्म-सुत्त-पाढए वसहं ॥80॥

जिनवर वृषभ को गुणों में श्रेष्ठ गणधर वृषभ को तथा दुस्सह परीषहों को सहन करने वाले एवं धर्म-सूत्र के पाठकों में श्रेष्ठ यतिवृषभ को नमस्कार करो।
(तिलोयपण्णति-यति वृषभाचार्य)

भाग 3 अध्याय 9

विचार ही हमें उठाते और ले डूबते हैं

निग्रहित मन की शक्ति असाधारण है। सूर्य किरणें बिखरी रहती हैं, उनकी गर्म रोशनी का ही महत्व है, पर आतिथी शीशे के माध्यम से उस किरण को एक केन्द्र पर केन्द्रीभूत कर लिया जा सके तो तुरन्त आग उत्पन्न हो सकती है। सौर किरणों की एक मील की ऊर्जा एक सरोवर को भाष बनाकर उड़ा सकती है। यही किरणों की एक मील की ऊर्जा एक सरोवर को भाष बनाकर उड़ा सकती है। उसकी अधिकांश क्षमता अस्त-व्यस्त बात निग्रहीत मन के सम्बन्ध में भी है। उसकी अधिकांश क्षमता अस्त-व्यस्त प्रयोजनों में नष्ट होती रहती है। उसके बिखराव को बचाकर एक केन्द्र पर केन्द्रित किया जा सके तो उतने भर से अनेकों चमत्कार देखे जा सकते हैं। शक्तियों का एकीकरण ही योगाभ्यास का मूल सिद्धान्त है। वहाँ उसके लिये अनेकों काम करने पड़ते हैं, पर विचारों के निग्रहीत करने की प्रक्रिया ऐसी है जो किसी भी आधार पर आत्मिक प्रगति के क्षेत्र में उत्तरने वाले उन लोगों को करनी ही पड़ती है जो अपनी सामान्य सी ही दिखने वाली चेतना से असामान्य कार्य लेना चाहते हैं, जो भौतिक इष्ट से असामान्य पुरुषार्थ कर सकते हैं और आध्यात्मिक इष्ट से भी।

मनोविज्ञानी सिगमण फ्रायड वहते थे कि विचारों में समझने-समझाने भर की शक्ति है। कार्लजुंग का प्रतिपादन था कि उनके द्वारा वस्तुओं को भी प्रभावित किया जा सकता है। विवाद के समाधान के लिये एक कमरा चुना गया और संकल्प किया कि विचारों में सभी वस्तुयें हिलने लगीं और पुस्तकें उड़कर दीवारों से जा चिपकीं।

फिल्मेंड की एक सुन्दर युवती की कथा है। उसे कैसर हो गया था। आपरेशन की टेबिल पर जाने से पूर्व उसने डावटर से पूछा—वह जीवित रह सकेगी ना? अपने प्रेमी के साथ विवाह कर सकने की स्थिति में ही सकेगी ना? डावटरों ने ना? अपने प्रेमी के साथ विवाह कर सकने की स्थिति में ही सकेगी ना? डावटरों ने आश्वासन में हाँ कह दिया। यद्यपि वे संदिग्ध थे। प्रेमी भी उस घड़ी दौड़ा आया और कहा—विमारी मामूली है। इसके ठीक होते ही हम लोग विवाह बन्धन में बंध जायेंगे और सुखपूर्वक जियेंगे।” ऐसा ही हुआ। लड़की की आशा प्रबल हुई और उत्साह का असामान्य प्रतिफल यह हुआ कि छोटे से आपरेशन से वह सदा के लिए उत्साह का असामान्य प्रतिफल यह हुआ कि छोटे से आपरेशन से वह सदा के लिए अच्छी हुई, जबकि उसी के बाईं की अन्य रोगी महिलाओं में से एक को भी न बचाया जा सका। आरोग्य रक्षा, रोग निवारण के क्षेत्र में मनस्विता संवर्धन के माध्यम से लोग प्रगति के पथ पर उतनी दूरी तक चल सके हैं जिन्हें देखकर आश्चर्य-चकित रहा जा सके।

निग्रहीत मन की शक्ति अपार हो जाती है। संकल्प बल में असीमित वृद्धि हो जाती है, जिससे बलपूर्वक कितनी ही बार एक स्थान पर बैठकर दूरवर्ती लोगों की प्रभावित किया जा सकता है। ट्रेड सीरियस द्वारा थाटग्राफी थाटफोटोग्राफी एवं रूस द्वारा “मेंटल वार” सम्भव कर पाना इसी आधार पर सम्भव हुआ है।

सामान्य जीवन में भी संकल्प शक्ति का कम महत्व नहीं है। विचार ही देर तक मस्तिष्क में जड़ जमाये रहने पर सुइँहोते और कर्मस्वरूप में परिणत हो जाते हैं। थोड़े दिन उन कार्यों को करते रहा जाय तो वे ही स्वभाव बन जाते हैं और ऐसी आदत के रूप में परिपक्व होते हैं कि सहज ही छुड़ाए नहीं छूटते। वे अभ्यास कार्य अनायास ही होने लगते हैं। उनके लिए साथी-सहयोगी मार्गदर्शक ही नहीं जहाँ-तहाँ से साधन भी अनायास ही जुटते रहते हैं। संकल्प बल पर एक अच्छी खासी सशक्त चुम्बक के समान है जो अपने अनुकूल व्यक्तियों तथा पदार्थों को खींच बुलाता है।

बड़ी-बड़ी खदानें इसी आधार पर बनती हैं, बढ़ती हैं कि जहाँ भी किसी पदार्थ की अधिक मात्रा जमा हुई कि उसका प्रभाव चुम्बकत्व उसी विरादरी के अन्याय कणों को अपनी ओर खींचना आरम्भ कर देता है और खदान का परिमाण अनायास ही बढ़ता चला गया है।

चेतना को प्रचण्ड शक्ति की चर्चा सब जगह होती है। शरीर जड़ पदार्थों का बना है। उसमें अपने निज की कोई क्षमता नहीं। यदि रही होती तो मरण के उपरान्त भी उसका अस्तित्व बना रहना। वस्तुतः प्रेरक सत्ता वह चेतन ही है जिसकी गतिविधियों, विचारों एवं संकल्पों के रूप में इष्ट गोचर होती हैं।

यही हमारा निर्देशक एवं मार्ग दर्शक है। जिस स्तर की आकांक्षायें भीतर उठती हैं और लगातार चलते रहने पर परिपक्व होती है, वही मनुष्य का अन्तराल बन जाता है। कार्यों और आदर्शों के साथ सम्मिश्रित होकर वही स्वभाव या संस्कार बनता है। इसी आधार पर भले-बुरे या अनगढ़ काम बन पड़ते हैं। वे परिस्थितियाँ सब ओर से सिमट कर उसी स्तर की जमा होने लगती हैं। परिस्थितियाँ स्वतंत्र रूप से नहीं आ धमकती। उन्हें हमारी मनः स्थिति चुनती और जहाँ-तहाँ से बटोरती है।

कहा जाता है कि जो होता है, विधि के विधान या भाग्य रेखा के अनुरूप होता है। यह देखना हो कि भाग्य कहाँ है और भवितव्यता का उल्लेख कहाँ मिलता है? तो उसे जन्म कुण्डलियों में वही वरन् मानवी अन्तराल में उठने वाले विचारों को देखकर किसी को अनुमान लगाना चाहिए। विचारों के बीज ही वृक्ष बनकर बढ़ते और फलते-फूलते हैं। विचार किस प्रकार के स्तर के अपनायें जायें। यह निर्णय मनुष्य अपनी इच्छानुसार ही करता है। किस तरह के अपनायें और किस स्तर के छोड़े जाए यह भी मनुष्य की अपनी अभिरुचि के ऊपर ही निर्भर है। वह चाहे तो किन्हीं विचारों को अपनाये भी रह सकता है, और जीवन भर अपनाये रह सकता है। पर यह भी पूरी तरह हाय की बात है कि अपनाये हुए कुविचारों को एक ही

प्राटके में साहस पूर्वक परित्याग कर दिया जाए और नये उपयोगी विचारों का महत्व समझे एवं व्यवहार में उतारने का अभ्यास डालकर उन्हें जीवन का अंग बना लिया जाए। आदतों की ठहनियों पर ही भलाई और बुराई के फूल या कट्टे लगते हैं।

विचार न जाने कहाँ से हमारे मस्तिष्क में घुस पड़ते हैं। यह कथन किसी हृदय तक ठीक है। अपेक्षा बरतने और निरीक्षण, परिशोधन न करने पर बुरी आदतें 'भिरं' के छत्ते की तरह घर बना लेती हैं और जब भी दाँव लगता है डंक चुभाती है। पर यह बात उन पर लागू नहीं होती जो फैशन-शृंगार को दर्पण में निहारते रहने की तरह अन्तर की भी देखभाल करते रहते हैं और जहाँ कहीं भी जितना कुछ भी कूड़ा-करकट दीख पड़ता है उसे बिना आलस्य बरते तत्काल निकाल फेंकते हैं।

स्मरण रहे आत्मा ही हमारी शत्रु या मित्र है। यहाँ आत्मा से तात्पर्य उस विचार शृंखला से समझा जाना चाहिए जो धीरे-धीरे परिपक्व होती और व्यक्तित्व का स्तर बढ़ती रहती है यदि मित्र का सघन साहचर्य हमें मिलता रहता है सतत सत्संग होता रहा तो कभी कुविचार पनपने नहीं पायेंगे। सद् विचारों की विग्राया अन्दर लहलायेगी एवं इसका सद्परिणाम आकर्षक, प्रभावशाली, व्यक्तित्व के रूप में उभर कर सामने आयेगा। (साभार—अखण्ड ज्योति)

अध्याय

2

अनित्य अनुप्रेक्षा

समुदेति विलय मृच्छति भावो नियमेन पर्यय नयस्य ।
नौदेति नो द्विनश्यति भवन तया लिंगितो नित्यम् ॥

पर्यय नय से समस्त पदार्थ नियम रूप से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं परन्तु द्रव्यार्थिक नय से न उत्पन्न होते हैं और न ही नष्ट होते हैं। द्रव्यार्थिक नय से सब पदार्थ नित्य हैं।

रागादि परिणाम स्वरूप आत्मा के द्वारा जो कर्मों के योग्य पुद्गल द्रव्य कर्मसुप से ग्रहण किए गए हैं अथवा परमाणु आदि जो पुद्गल द्रव्य आज तक ग्रहण नहीं किये हैं वे सब द्रव्यरूप से नित्य हैं, परन्तु पर्याय नय से सदा लगे हुये भेद रूप संसर्ग के सम्बन्ध से अनित्य हैं, शरीर और इन्द्रियों के विषयों के उपभोग परिभोग करने योग्य समुदाय रूप सब द्रव्य भी जल के बुद्धुदे के समान अनवस्थित स्वभाव है अर्थात् शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। गर्भ आदि विशेष-विशेष अवस्थाओं में भी संयोग और वियोग सदा प्राप्त होते रहते हैं। परन्तु मोहनीय कर्म के उदय से यह अज्ञानी जीव इस संसार में सबको नित्य मानता है संसार में आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव के सिवाय और कुछ भी नित्य नहीं हैं इस प्रकार चिंतनवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इस भावना के चिंतनवन करने से उन पदार्थों में ममत्व बुद्धि नहीं होती और ममत्व बुद्धि के न होने से उपभोग कर छोड़े हुये गंधमाला आदि पदार्थों के समान उनका वियोग होने पर भी किसी तरह का क्लेश उत्पन्न नहीं होता है।

(चा० सा० पृ० 198)

ठाणाणी आसणाणि य देवासुरहडिठमणुयसोबखाइ ।

मादुपिदुस्यणसंवासदा य वीढी वि य अणिच्चा ॥ (695)

ग्राम, नगर, पत्तन, देश, पर्वत नदी और मट्टव आदि स्थान कहलाते हैं; अथवा देवेन्द्र, चक्रवर्ती और बलदेव के पद स्थान संज्ञक है या इक्षवाकुवंश आदि स्थान हैं अर्थात् जिनमें जीव सुख से रहते हैं, उन्हें स्थान कहते हैं। जिनमें सुख से प्रवेश करते हैं वे आसन हैं वे राज्य के अंगभूत सिंहासन आदि हैं। अथवा अशन-नाना प्रकार के भोजन आदि ऐसा अर्थ यहाँ लेना चूंकि आगे गाथा में 'आसन' शब्द से 'आसन' अर्थ लिया है। देवों के असुरों के और मनुष्यों के हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति, द्रव्य व सुवर्ण आदि विभूति का पूर्व अवस्था से अधिक हो जाना अहंदि है। शुभ द्रव्यों के

द्वारा इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ जो आनन्द है वह सौख्य है। माता-पिता व स्वजन-बन्धु वर्ग के साथ में एकत्र निवास होना संवास है। तथा इनके स्नेह का नाम प्रीति है। इस तरह स्नेह, आसन, नानावैभव, सुख, स्वजनों का संवास और स्नेह ये सब अनित्य-धर्णिक हैं शाश्वत रूप नहीं हैं ऐसी वृद्धि करना।

सार्वगिरिधियरूपं मदि जोवणजीवियं बलं तेजं ।

गिहसयणासाणंभङ्गदिया अणिच्चेति चित्तेज्जो ॥ (696)

राज्य के या घर के उपकरण में—घोड़ा, हाथी, रथ, पादाति, खड़ग, भाला, कुल्हाड़ी धान्य और कोश ये सामग्री कहलाते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं। गौरवर्ण आदि की रमणीयता रूप है। पूर्वापि विवेक रूप वृद्धि का नाम मति है। बारह वर्ष से ऊपर की उम्र का परिणाम योवन है। आयु का होना जीवन है। सामर्थ्य को बल कहते हैं। शरीर की कान्ति अथवा प्रताप का नाम तेज है। पुरुषों द्वारा लाये हुए अर्थ को गृहणन्ति इति शुहा: जो शुहण करते हैं वे ग्रह हैं इस लक्षण से स्त्रियाँ भी गृह हैं तथा उनसे सहचरित महल आदि भी गृह हैं गद्वे पलंग आदि सुख के कारण भूत शयन है। सुख के हेतुक वेवासन पीठ आदि आसन है अथवा शरीर आदि या पुत्र, मित्र, दासी, दास, आदि 'आसन' शब्द से विवक्षित है। सौंठ, मिर्च, हींग, वस्त्र, कपास, चांदी, तांबा आदि सभी वस्तुयें भाँड़ शब्द से कही जाती हैं। ये उपर्युक्त राजादि के उपकरण, इन्द्रियाँ, सुन्दर रूप, विवेक, योवन जीवन शक्ति तेज घर या स्त्रियाँ, शमन, आसन और भाँड़ आदि सभी क्षणभंगुर हैं—इस प्रकार से ध्यान करें। यह अनित्य भावना है।

ये दृष्टिपथमायाता: पदार्थः पुण्यमूर्तयः ।

पूर्वाह्वे न च मध्याह्वे ते प्रयान्तीह वेहिनाम् ॥(11)

इस संसार में जिनके यहाँ पुण्य के मूर्तिस्वरूप उत्तमोत्तम पदार्थ प्रभात के दृष्टि गोचर होते थे, वे मध्याह्व काल में रेखने में नहीं आते अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। तू आत्मन् ! विचार पूर्वक देख।

क्षणिकत्वं बन्दन्त्यार्या घटीघातेन भूमृताम् ।

क्रियतामात्मनः श्रेयो गतेयं नागमिध्यति ॥(15)

इस लोक में राजाओं के यहाँ जो घड़ी का घंटा बजता है और शब्द करता है सो सबके क्षणिकपन को प्रकट करता है, अर्थात् जगत् को मानो पुकार-पुकार कर कहता है कि हे जगत् के जीवों ! जो कुछ अपना कल्याण करना चाहते हो, सो शीघ्र ही कर डालो नहीं तो पछताओगे। क्योंकि यह जो घड़ी बीत गई, वह किसी प्रकार भी पुनः लौटकर नहीं आयेगी। इसी प्रकार अगली घड़ी जो वर्ष की खो दोगे तो वह भी गयी हुई नहीं लौटेगी।

अवश्यं यदि यास्यन्ति पुत्रस्त्रीधनबन्धवाः ।

शरीराणि तदे तेषां कृते किं खिद्यते वृथा ॥(17)

पुत्र स्त्री वान्धव धन शरीरादि चले जाते हैं, जो है वह भी अवश्य चले जायेंगे फिर इनके कार्य साधन के लिये वह जीव वृथा ही क्यों खेद करता है।

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः ।

मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥(23)

देखो ! इन जीवों का प्रवर्तन कैसा आश्चर्यकारक है कि शरीर तो प्रतिदिन छीजता जाता है और आशा नहीं छीजती है, किन्तु बढ़ती जाती है तथा आयुवल तो घटता जाता है और पापकार्यों में वृद्धि बढ़ती जाती है। मोह तो नित्य स्फुरायमान है और यह प्राणी अपने हित वा कल्याण मार्ग में नहीं लगता है। सो ग्रह कैसा अज्ञान का माहात्म्य है।

यास्यन्ति निर्दया तूनं दत्त्वा दाहमुन्नतम् ।

हृदि पुंसां कथं ते तुस्तव प्रीत्यं परिग्रहाः ॥(24)

हे आत्मन् ! यह परिग्रह पुरुषों के हृदय में अतिशय दाह अर्थात् सन्ताप देकर अवश्य ही चले जाते हैं। ऐसे ये परिग्रह तेरी प्रीति करने योग्य कैसे हो सकते हैं।

यद्वदेशान्तरादेत्य वसन्ति विहगा नगे ।

तथा जन्मान्तराम्भूद्ध प्राणिनः कुलपादपे ॥30॥

जैसे पक्षी नाना देशों से आ-आकर संध्या के समय वृक्षों पर बसते हैं, वैसे ही ये प्राणीजन अन्यान्य जन्मों से आ-आकर कुलरूपी वृक्षों पर बसते हैं, अर्थात् जन्म लेते हैं।

प्रातस्तरूमतिकाम्य यथंते यान्ति पत्रिणः ।

स्वकर्मवशगाः शख्त्यर्थते क्वापि देहिनः ॥31॥

जिस प्रकार वे पक्षी प्रभात के समय उस वृक्ष को छोड़कर अपना-अपना रास्ता लेते हैं; उसी प्रकार यह प्राणी भी आयु पूर्ण होने पर अपने कर्मनुसार अपनी-अपनी गति में चले जाते हैं।

गीयते यत्र सानन्दं पूर्वाह्वे ललितं गृहे ।

तस्मिन्नेव हि मध्याह्वे सुदःखमिह रूचते ॥32॥

जिस घर में प्रभात के समय आनन्दोत्साह के साथ सुन्दर-सुन्दर मांगलिक गीत गाये जाते हैं, मध्याह्व के समय उसी घर में दुःख के साथ रोना सुना जाता है।

यस्य राज्याभिषेकश्चीः प्रत्यूषेऽत्र विलोक्यते ।

तस्मिन्नहन्ति तस्यैव चिताधूमशब्दं दृश्यते ॥33॥

प्रभात के समय जिसके राज्याभिषेक की शोभा देखी जाती है, उसी दिन उसी राजा की चिता का धूँआ देखने में आता है। यह संसार की विचित्रता है।

यान्त्येव न निरवर्त्तने सरितां यद्गृह्मयः ।

तथा शरीरणां पूर्वा गता नायान्ति भूतयः ॥37॥

जिस प्रकार नदी की जो लहरें जाती हैं; वे फिर लौटकर कभी नहीं आती हैं; इसी प्रकार जीवों की जो विभूति पहले होती है, वह नष्ट होने के पश्चात् फिर लौटकर नहीं आती। यह प्राणी वृथा ही हर्ष विषाद करता है।

क्वचित् सरितरङ्गात्री गतापि विनिवर्तते ।

व रूपबललावण्यं सौन्दर्यं तु गतं नृनाम ॥38॥

नदी की लहरें कदाचित् कहीं लौट भी आती हैं, परन्तु मनुष्यों का गया हुआ रूप, बल, लावण्य और सौन्दर्यं किर नहीं आता। यह प्राणी वृथा ही उनकी आणा लगाये रहते हैं।

गलत्येवायुरत्यर्थं हस्तन्यस्ताम्बुवत्क्षणे ।

नलिनीदलसंक्रान्तं प्रालेयमिव यौवनम् ॥39॥

जीवों का आयुर्वेद तो अञ्जलि के जल समान क्षण-क्षण में निरन्तर झरता है और यौवन कमलिनी के पते पर पड़े हुए जलविन्दु के समान तत्काल ढुलक जाता है। यह प्राणी वृथा ही स्थिरता की इच्छा रखता है।

मनोज्ञविषयः सार्थं संयोगः स्वप्नसंग्रिभाः ।

क्षणादेव क्षयं यान्ति वन्चनोद्गुद्धयः ॥40॥

जीवों के मनोज्ञ विषयों के साथ संयोग स्वप्न के समान है, क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है। जिनकी वृद्धि ठगने में उद्धत है, ऐसे ठगों की भाँति ये किंचित्काल चमत्कार दिखाकर फिर सर्वस्य हरने वाले हैं।

धनमालानुकारीणं कुलानि च बलानि च ।

राज्यालङ्गारवित्तानि कीर्तितानि मर्हिषिभिः ॥41॥

मर्हिषियों ने जीवों के कुल-कुटुम्ब, बल, राज्य, अलंकार, धनादिकों को मेघ-पटलों के समूह समान देखते-देखते विलुप्त होने वाले कहे हैं। यह सूढ़ प्राणी वृथा ही नित्य की वृद्धि करता है।

फेनपुंजे ऽथवा रम्भास्तम्भे सारः प्रतीयते ।

न शरीरे मनुष्याणां दुर्बुद्धे विद्धि वस्तुतः ॥42॥

हे दुर्बुद्धि सूढ़ प्राणी ! वास्तव में देखा जाय तो ज्ञागों के समूह में तथा केले के थंम में तो कुछ सार प्रतीत होता भी है, परन्तु मनुष्यों के शरीर में तो कुछ सार नहीं हैं।

यातायातानि कुर्वन्ति ग्रहचन्द्रार्कतारकाः ।

ऋतवश्च शरीराणि न हि स्वप्नेऽपि देहिनाम् ॥43॥

इस लोक में ग्रह, चन्द्र, सूर्य, तारे तथा छः कृतु आदि सब ही जाते और आते हैं; अर्थात् निरन्तर गमनागमन करते रहते हैं। परन्तु जीवों के गये हुए

शरीर स्वप्न में भी कभी नहीं लौटकर आते। यह प्राणी वृथा ही इनसे प्रीति करता है।

ये जाताः सातरूपेण पुद्गलाः प्राङ्मनः प्रियाः ।

पश्य पूंसां समापन्ना दुःखरूपेण तेऽधुना ॥44॥

हे अत्मन ! इस जगत् में जो पुद्गलस्कन्ध पहले जिन पुरुषों के मन को प्रिय और सुख देने वाले उपजे थे, वे ही अब दुःख के देने वाले हो गये हैं, उन्हें देख अर्थात् जगत् में ऐसा कोई भी नहीं है जो शाश्वत सुखरूप ही रहता है।

मोहांजनमिवक्षणामिन्द्रजालोपमं जगत् ।

मुहूर्त्यस्मिन्नयं लोको न विद्मः केन हेतुना ॥45॥

यह जगत् इन्द्रजालवद् है। प्राणियों के नेत्रों के मोहिनी अञ्जन के समान भूलाता है, और लोग इसमें मोह को प्राप्त होकर अपने की भूल जाते हैं, अर्थात् धौखा खाते हैं, अतः आचार्य महाराज कहते हैं कि हम नहीं जानते ये लोग किस कारण से भूलते हैं। यह प्रबल मोह का माहात्म्य है।

ये ये त्रिजगतीमध्ये पदार्थश्चेतनेतराः ।

ते ते मुनिभिरुद्धिष्ठाः प्रतिक्षणविनश्वराः ॥46॥

इस जगत् में जो-जो वेतन और अचेतन पदार्थ हैं उन्हें सब मर्हिषियों ने क्षण भर में नष्ट होने वाले और विनाशिक कहे हैं। यह प्राणी इन्हें नित्यरूप मानता है, यह भ्रममात्र है।

गगननगरकल्पं सङ्ग्रहं बल्लभानाम् ।

जलदप्टलतुल्यं यौवनं वा धनं वा ।

सुजनसुतशरीरदीनि विद्युच्चलानि ।

क्षणिकमिति समस्तं विद्धि संसारवृत्तम् ॥47॥

आचार्य महाराज कहते हैं कि हे प्राणी ! बलभा अर्थात् व्यारी स्त्रियों का संगम आकाश में देवों से रचे हुए नगर के समान है; अतः तुरन्त विलुप्त हो जाता है और तेरा यौवन वा धन जलद पटल के समान है, सो भी क्षण में नष्ट हो जाने वाला है। तथा स्वप्नवद् परिवार के लोग पुत्र शरीरादिक विजली के समान चंचल है, इस प्रकार जगत् की अवस्था अनित्य जानके नित्यता की वृद्धि मत रख।

(ज्ञानार्वण) द्वादशभावना

अनित्य सौन्दर्य

सूरत अयोध्या के राजा थे। इनकी पाँच सौ स्त्रियाँ थीं। उनमें पट्टरानी का पद महादेवी सती को प्राप्त था। राजा का सती से बहुत प्रेम था। वे रात-दिन भोगों में ही असत्त रहते थे, उन्हें राजकाज की कुछ चिन्ता न थी। अतः पुर के पहरे पर रहने वाले सिपाही से उन्होंने कह रखा था कि जब कोई खास मेरा कार्य हो या कभी कोई खास साधु-महात्मा यहाँ आवें तो मुझे उनकी सूचना देना। वैसे कभी कुछ कहने को न आना।

एक दिन पुण्योदय से एक महीने के उपवास से दमदत्त और धर्मरुचि मुनि आहार के लिये आये। तब सिपाही ने नमस्कार कर उसने मुनियों के आने का हाल उनसे पूछा। राजा इस समय अपनी प्राणप्रिया सती के मुख-कमल पर तिलक-रचना कर रहे थे वे सती से बोले—प्रिये! जब तक कि तुम्हारा तिलक न सुखे, मैं अभी मुनिराजों को आहार देकर बहुत जल्दी आ जाता हूँ। यह कहकर राजा चले आये। उन्होंने मुनिराजों को भक्तिपूर्वक ऊँचे आसन पर बैठकर नवधा भक्ति-सहित पवित्र आहार कराया जो कि उत्तम सुखों को देने वाला है। सच है, दान, पूजा, व्रत उपवासादि से ही श्रावकों की शोभा है और जो इनसे रहित हैं वे फलरहित वृक्ष की तरह निरर्थक समझे जाते हैं। इसीलिये बुद्धिमानों को उचित है कि वे पात्र-दान, जिनपूजा व्रत, उपवासादिक सदा अपनी शक्ति अनुसार करते रहें।

इधर तो राजा ने मुनियों को दान देकर पुण्य उत्पन्न किया और उधर उनकी प्राणप्रिया अपने विषय-सुख के अन्तराय करने वाले मुनियों का आना सुनकर बड़ी दुःखी हुई। उसने अपना भोला-बुरा कुछ न सोचकर मुनियों की निन्दा करना शुरू किया और खूब ही उन्हें मनमानी गालियाँ दीं। सन्तों का यह कहना व्यर्थ नहीं है कि—

“इस हाथ दे उस हाथ ले”। सती के लिये यह नीति चरितार्थ हुई। अपने बाँधे तीव्र पापकर्मों का फल उसे उसी समय मिल गया। रानी को कोढ़ निकल आया। सारा शरीर काला पड़ गया उससे दुर्गन्ध निकलने लगी। आचार्य कहते हैं—हताहल विष खा लेना अच्छा है जो एक ही जन्म में कष्ट देता है पर जन्म-जन्म में दुःख देने वाली मुनि-निन्दा करना कभी अच्छा नहीं क्योंकि सन्त महात्मा तो व्रत, उपवास, शील आदि से भूषित होते हैं और सच्चे आत्म-हित का मार्ग बताने वाले हैं, वे निन्दा करने योग्य कैसे हैं? और वे ही गुरु अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं इसीलिए दीपक हैं, सबका हित करते हैं इसी लिये बन्धु हैं और संसाररूपी समुद्र से पार करते हैं, इसीलिये कर्मशील खेवटियाँ हैं। अतः हर प्रयत्न द्वारा इनकी आराधना, सेवा शूश्रूषा करते रहना चाहिये।

जब राजा मुनिराजों को आहार देकर निवृत हुए तब पीछे वे अपनी प्रिया के पास आ गए। आते ही जैसे उन्होंने रानी का काला और दुर्गन्धमय शरीर देखा वे बड़े अचम्भे में पड़ गए। पूछने पर उन्हें उनका कारण मालूम हुआ सुनकर बहुत खिल हुए। संसार, शरीर भोग उन्हें सब अप्रिय जान पड़ने लगा। उन्हें अपनी रानी का मुनि-निन्दारूप घृणित कर्म देखकर बड़ा वैराग्य हुआ वे उसी समय सब राजपाट त्याग कर योगी बन गए और अपना तथा संसार का हित करने में उद्यमी बने। समय पाकर सती की मृत्यु हुई। अपने पाप के फल से वह संसार रूपी बन मृत्युने लगी। (आराधना कथा-कोष)

संसारानित्यता

अहो मोहस्य माहात्म्यज्ञानं वाथ कि परम् ।

अधुवं यद् ध्रुवं वैति न च स्वस्यंव बोधनम् ॥1॥

उस मोह से बढ़कर मूर्खता की बात और कोई नहीं है कि जिसके कारण अस्यायी पदार्थों को मनुष्य स्थिर और नित्य समझ बैठता है।

समायाति महालक्ष्मीः प्रेक्षणे जनसंद्यवत् ।

विनिर्याति महालक्ष्मीस्तदन्ते जनसंद्यवत् ॥2॥

धनोपार्जन करना खेल देखने के लिये आयी हुई भीड़ के सदश है और धन का क्षय उस भीड़ के तितर-बितर ही जाने के समान है।

समृद्धो यदि जातोऽसि द्रुतमेव विद्येहि तत् ।

यत्कार्यं सुस्थिरं लोके यतो वितं न शाश्वतम् ॥3॥

समृद्धि ध्यानस्थायी है। यदि तुम समृद्धिशाली हो गये हो तो ऐसे काम करने ने देर न करो जिनसे स्थायी लाभ पहुँच सकता है।

कालो यद्यपि निर्दीपः सरलस्त्राय दश्यते ।

परं कृत्वा तर्तु सर्वेषामायुः क्रकचसन्निभः ॥4॥

समय देखने में भोला-भाला और निर्दीप मालूम होता है परन्तु वास्तव में वह आरा है जो मनुष्य के जीवन को बराबर काट रहा है।

शीघ्रतैव सदा कार्या विवृद्धैः शुभकर्मणि ।

को हि वैति कदा जित्वा स्तव्या स्यात् सह हिक्कया ॥5॥

पवित्र काम करने में शीघ्रता करो, ऐसा न हो कि बोली बन्द हो जाय और हिचकियाँ आने लगें।

ह्य एव मनुजः कश्चिदासीदखिलगोचरः ।

स एवाद्य नरो नास्ति तूनमित्येव विस्मयः ॥6॥

कल तो एक आदमी विद्यमान या और आज वह नहीं है, संसार में यही बड़े अचरज की बात है।

को जानाति पलस्यान्ते जीवनं मे भवेत्त वा ।

परं पस्यास्थ संकल्पान् कोटिशो हृदि संस्थितान् ॥7॥

मनुष्य को इस बात का पता नहीं कि पलभर के पश्चात वह जीवित रहेगा या नहीं, पर उसके विचारों को देखो तो वे करोड़ों की संख्या में चल रहे हैं।

पत्रं प्राप्य यथा पत्रो स्फुटिताण्डं विहाय च ।

उड्डीयते तथा देही देहाद् याति स्वकर्मतः ॥8॥

पंख निकलते ही चिड़िया का बच्चा फूटे हुए अण्डे को छोड़ कर उड़ जाता है। शरीर और आत्मा की पारस्परिक मिलता का यही व्यञ्जन है।

असौ मृत्युः समान्नातो निद्रानुल्यो विदास्वरूपः ।

जीवनं तस्य विच्छेदः स्वापाज्जागृति सन्निमभ् ॥9॥

मृद्धु नींद के समान है और जीवन उस निद्रा से जागते के तुल्य है ।

आत्मनो वै निजावासः किंस्तिव्वास्तीह यो जनाः ।

हीनस्थाने यतो वेहे भुडक्के वासेन पीडनम् ॥10॥

क्या आत्मा का अपना कोई निज घर नहीं है, जो वह इस निष्ठ शरीर में आश्रय लेता है ।

सा रस्या नगरी महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं चतत् ।

पाश्वे तस्य च सा विदध्यपरिषत्ता शचन्द्रविम्बाननः ।

उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ता: कथाः ।

सर्वं यस्य वशादगात्ममृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥34॥ (पृ० 43)

वह पहले देखी गयी मनोहर नगरी सर्वंगुण सम्पन्न वह राजा, वह लोकोत्तर उसके आधीन रहने वाले राजाओं का चक्र उसके आस-पास बैठने वाले पण्डिताण परम सुन्दरी स्त्रियों का वह वर्ग, अत्यन्त प्रतापी राजपुत्रों का वह सूह, अते प्रवीण वे बन्दी और उस समय की आदर्श चरित वे कथायें आदि सब बातें जिस काल से वश होकर नाम शेष हो गई उस काल को हम नमस्कार करते हैं ।

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते

समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।

इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना

गतास्तुल्यावस्थां सिक्तिलनदीतीरतरुभिः ॥35॥

हम जिनसे उत्पन्न हुए उन माता-पिताओं को गये बहुत दिन हो गए, जिनके साथ बढ़े थे वे भी आज नाम शेष हो गये । अब इस समय हम लोग नदी के किनारे बालू में उत्पन्न वृक्षों की तरह दिन-दिन मृत्यु के निकट पहुँचते जा रहे हैं ।

यत्रानेकः कवचिदपि गृह तत्र तिष्ठत्यथैको ।

यत्राव्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकङ्गि चान्ते

इत्थ चेमौ रजनिदिवसौ दौलयन्द्राविवाक्षी

कालः काल्या भुवनफलके क्रीडुति प्राणशारः ॥36॥

जहाँ अनेक थे, आज वहाँ एक दिखाई दे रहा है, जहाँ एक था वहाँ अनेक दिखाई दे रहे हैं और अंत में एक भी नहीं रह जाता है इस तरह रात और दिन रूप दो पासों को फेंकता हुआ यह कालपुरुष अपनी स्त्री काली के साथ प्राणों का पासा बनाकर संसार रूपी चौपड़ खेल रहा है ।

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं

गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम् ।

पिवामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसान्

न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ॥39॥

हम नहीं जानते कि क्षणिक जीवन में इस शरीर से हम क्या करें—तपस्या करते हुए गंगा जी के टट पर निवास करें अथवा गुणों से उदार अपनी स्त्री की सविनय सेवा किया करें, या वेदांतादि शास्त्रों का श्रवण करें या काव्यरूपी अमृत का पान करें । (भर्तृहरिशतक)

इमं सरीरं अणिच्चं

असुइं अमुद्दिसंभवं ।

असासयावासमिन

दुक्ख-केसाण भायणं ॥13॥

“यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है, अशुचि से पैदा हुआ है, यहाँ का आवास अशाश्वत है तथा दुःख और क्लेश का स्थान है ।”

असासए सरीरमिन् ।

रइं नोवलभामहं

पच्छा पुरा व चइयच्चे

केणवुबुय सन्निभे ॥14॥

“इसे पहले या बाद में कभी छोड़ना ही है । यह पानी के बुलबुले के समान अनित्य है । अतः इस शरीर में मुझे आनन्द नहीं मिल पा रहा है ।”

माणुसत्ते असारमिन्

वाही-रोगाण आलए ।

जरा—मरणधत्थमिन्

खणं पि न रमामङ्गं ॥15॥

व्याधि और रोगों के घर तथा जरा और मरण से ग्रस्त इस असार मनुष्य शरीर में एक क्षण भी मुझे सुख नहीं मिल रहा है । (उत्तराध्ययन सूत्र)

सांसारिक वैभव अनित्य

दुक्षिक्य-कम्म-वसादो राया वि य असुइ-कीडओ होदि ।

तत्त्वेव य कुण्ड रई पेकबंह मोहस्स माहृषां ॥16॥

पापकर्म के उदय से राजा भी मरकर विष्ठा का कीड़ा होता और उसी विष्ठा में रति करने लगता है । मोह का माहात्म्य तो देखो ।

विदेह देश में मिथिला नाम की नगरी है । उसमें सुभोग नाम का राजा राज्य करता था । उसकी पत्नी का नाम मनोरमा था । उन दोनों के देवरति नाम का युवा पुत्र था । एक बार देवगुरु नाम के तपस्वी आचार्य संघ के साथ मिथिला नगरी के उद्यान में आकर ठहरे । उनका आगमन सुनकर राजा सुभोग मुनियों की वन्दना करने के लिये गया । और आचार्यों को नमस्कार करके उनसे पूछने लगा—मुनिराज ! मैं यहाँ से मरकर कहाँ जन्म लूँगा ? राजा का प्रश्न सुनकर मुनिराज बोले—हे राजेन्द्र ! आज से सातवें दिन विजली के गिरने से तुम्हारी मृत्यु हो

जायेगी और तुम मरकर अपने शौचालय में टट्टी के कीड़े होओगे। हमारे इस कथन की सत्यता का प्रमाण यह है, कि आज जब तुम यहाँ से जाते हुए नगर में प्रवेश करोगे तो तुम मार्ग में एक भौंरे की तरह काले कुत्ते को देखोगे। मुनि के बचन सुनकर राजा ने अपने पुत्र को बुलाकर उससे कहा, 'पुत्र! आज से सातवें दिन मरकर मैं अपने शौचालय में टट्टी का कीड़ा होऊँगा। तुम मुझे मार देना।' पुत्र से ऐसा कहकर राजा ने अपना राजपाट छोड़ दिया और बिजली भिरने के भय से जल के अन्दर बने हुये महल में छिपकर बैठ गया। सातवें दिन बिजली के गिरने से राजा की मृत्यु हो गई और वह मरकर अपने शौचालय के विष्ठा में सफेद कीड़ा हुआ। पुत्र ने जैसे ही उसे देखा और वह उसे मारने को प्रवृत्त हुआ, वह कीड़ा विष्ठा में भुस गया। संसार की यह विचिन्ता देखकर पुत्र को बड़ा अचरज हुआ और वह विचारों में डूब गया। संसार की यह स्थिति कितनी करुणाजनक है।

अठारह नाते

पुत्रो वि भाउ जाओ सो चिय भाओ वि देवरो होदि ।
माया होदि सक्ती जणणो वि य होदि भत्तारो ॥६४॥
एयमिं भवे एदे संबधों होंति एय-जीवस्स ।
अण-भवे किं भणइ जीवाणं धम्म-रहिदाणं ॥६५॥

पुत्र भी भाई होता है। वह भाई भी देवर होता है। माता सौत होती है। पिता भी पति होता है। जब एक जीव के एक ही भव में ये नाते होते हैं, तो धर्म-रहित जीवों के दूसरे भव में कहना ही क्या है?

जैन शास्त्रों में अठारह नाते की कथा प्रसिद्ध है। उसी कथा के प्रमुख पात्र धनदेव और पात्री वसन्ततिलका वेश्या तथा उसकी पुत्री कमला के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर उक्त बातें कही गई हैं। कथा इस प्रकार है—मालव देश की उज्जैनी नगरी में राजा विश्वसेन सेठ सुदृढ़ और वसन्ततिलका वेश्या रहती थी। सेठ सुदृढ़ करोड़ द्रव्य का स्वामी था। उसने वसन्ततिलका वेश्या को अपने घर में रख लिया। वह गर्भवती हुई और खाज, खाँसी, श्वास आदि रोगों ने उसे घेर लिया तब सेठ ने उसे अपने घर से निकाल दिया। अपने घर में आकर वसन्ततिलका ने एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। खिन्ह होकर उसने रत्नकम्बल में लपेट कर कमला नाम की पुत्री को तो दक्षिण दिशा की गली में डाल दिया। उसे प्रयाग का वापारी सुकेत ले गया और उसने उसे अपनी सुपुत्री नाम की पत्नी को सौंप दिया। तथा धनदेव पुत्र को उसी तरह रत्नकम्बल से लपेट कर उत्तर दिशा की गली में रख दिया। उसे अयोध्यावासी समुद्र ले गया और उसने उसे अपनी सुव्रता नाम की पत्नी को सौंप दिया। पूर्वजन्म में उपार्जित पापकर्म के उदय से धनदेव और कमला का आपस में विवाह हो गया। एक बार धनदेव व्यापार के लिये उज्जैनी गया। वहाँ वसन्ततिलका वेश्या से उसका सम्बन्ध हो गया। दोनों के सम्बन्ध से वर्णन नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। एक बार कमल ने श्री मुनिदत्त से अपने पूर्व-

जन्म का वृत्तान्त पूछा। श्री मुनिदत्त ने सब सम्बन्ध बतलाया, जो इस प्रकार है। उज्जैनी में सोमशर्मा नाम का बाह्यण था। उसकी पत्नी का नाम काश्यपी था। उन दोनों के अग्निभूति और सोमभूति नाम के दो पुत्र थे। वे दोनों परदेश से विद्याध्ययन करके लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने जिनमति आर्यिका को अपने पुत्र जिनदत्त मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुए देखा, तथा सुभद्रा आर्यिका को अपने श्वशुर जिनभद्र मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुए देखा। इस पर दोनों भाइयों ने उपहास किया। 'जवान की स्त्री बूढ़ी और बूढ़े की स्त्री जवान, विधाता ने अच्छा उलट फेर किया है।' कुछ समय पश्चात् अपने उपार्जित कर्मों के अनुसार सोमशर्मा ब्राह्मण मरकर उज्जैनी में ही वसन्तसेना की पुत्री वसन्ततिलका हुई और अग्निभूति और सोमभूति दोनों मरकर उसके धनदेव और कमला नाम के पुत्र और पुत्री हुए। ब्राह्मण की पत्नी व्यभिचारिणी मरकर धनदेव के सम्बन्ध से वसन्ततिलका के वरुण नाम का पुत्र हुई। इस कथा को सुनकर कमला को जातिस्मरण हो आया। उसने मुनिराज से अगुन्त्रत ग्रहण किये और उज्जैनी जाकर वसन्ततिलका के घर में धुसकर पालने से पड़े हुए वरुण को झुलाने लगी और उससे कहने लगी—(1) मेरे पति के पुत्र होने से तुम मेरे पुत्र हो। (2) मेरे भाई धनदेव के पुत्र होने से तुम मेरे भतीजे हो। (3) तुम्हारी और मेरी माता एक ही है, अतः तुम मेरे भाई हो। (4) धनदेव के छोटे भाई होने से तुम मेरे देवर हो। (5) धनदेव मेरी माता वसन्ततिलका का पति है, इसीलिये धनदेव मेरा पिता है। उसके भाई होने से तुम मेरे काका हो। (6) मैं वसन्ततिलका वेश्या की सौत हूँ। अतः धनदेव मेरा पुत्र है। तुम उसके भी पुत्र हो, अतः तुम मेरे पौत्र हो। यह छः नाते बच्चे के साथ हुए। आगे- आगे। (1) वसन्ततिलका का पति होने से धनदेव मेरा पति है। (2) तुम मेरे काका हो और धनदेव तुम्हारा भी पिता है, अतः वह मेरा दादा है। (3) तथा वह मेरा पति भी है। (4) उसकी और मेरी माता एक ही है; अतः धनदेव मेरा भाई है। (5) मैं वेश्या वसन्ततिलका की सौत हूँ और उस वेश्या का वह पुत्र है; अतः मेरा भी पुत्र है। (6) वेश्या मेरी सास है, मैं उसकी पुत्र वधू हूँ और धनदेव वेश्या का पति है; अतः वह मेरा श्वशुर है। ये छः नाते धनदेव के साथ हुए। आगे—(1) मेरे भाई धनदेव की पत्नी होने से वेश्या मेरी भावज है। (2) तेरे मेरे दोनों के धनदेव पति हैं और वेश्या उनकी माता है; अतः वह मेरी दादी है। (3) धनदेव की और तेरी भी माता होने से वह मेरी भी माता है। (4) मेरे पति धनदेव की भार्या होने से वह मेरी सौत है। (5) धनदेव मेरी सौत का पुत्र होने से मेरा भी पुत्र कहलाया। उसकी पत्नी होने से वह वेश्या मेरी पुत्रवधू है। (6) मैं धनदेव की स्त्री हूँ और वह उसकी माता है; अतः मेरी सास है। इन अठारह नातों को सुनकर वेश्या धनदेव आदि को भी सब बातें ज्ञात हो जाने से जाति स्मरण हो आया। सभी ने जिनदीक्षा ले ली। और मरकर स्वर्ग चले गये। इस प्रकार एक ही भव में अठारह नाते तक हो जाते हैं; तो दूसरे भव की तो कथा ही क्या है?

सांसारिक सुख अनित्य

संधणो वि होदि णिधणों धन-हीणो तह व ईसरो होदि ।
राया वि होदि भिच्चो-भिच्चो वि य होदि णर-णाहो ॥५६॥

धनवान् निर्धन हो जाता है । निर्धन धनवान् हो जाता है । राजा सेवक हो जाता है और सेवक भी राजा हो जाता है ।

इस संसार की दशा बड़ी विचित्र है । जो आज धनवान् है, कल वही निर्धन हो जाता है, और आज जो निर्धन है वही कल मालिक बन जाता है । अधिक क्या ? पलभर में राजा रङ्ग हो जाता है और रङ्ग राजा हो जाता है । इसका दृष्टान्त जीवन्धर-कुमार के पिता राजा सत्यन्धर की कथा है । विषयासक्त राजा सत्यन्धर ने राजकाल का भार अपने मंत्री काष्ठाङ्गार को सौंप दिया था । काष्ठाङ्गार के मन में धूतता आई और उसने राजद्रोही बनकर राजमहल को जा घेरा । उस समय रानी गर्भवती थी । राजा ने रानी को तो मयूरयंत्र में बैठाकर आकाशमार्ग से चलता कर दिया और स्वयं युद्ध में मारा गया । मयूरयंत्र रानी को लेकर शमशान भूमि में जा गिरा और वहीं पर रानी ने पुत्र प्रसव किया । इस घटना का वर्णन करते हुए क्षत्रिय-मणिकर ने ठीक ही कहा था, कि प्रातःकाल के समय जिस रानी की पूजा स्वयं राजा ने की थी, सन्धया के समय उसी रानी को शमशान भूमि की शरण लेनी पड़ी । अतः समझदारों को पाप से डरना चाहिये ।

यथा बुबुलकं पस्ते यथा पस्ते मरीचिकं ।
एवं लोकं अवेक्खतं मच्चुराजा न पस्ति ॥५॥

13 लोक बग्गो

जो इस लोक को बुलबुले की तरह और मृग मरीचिका की तरह देखें, उसे ऐसे देखने वाले को यमराज नहीं देखता ।

सब्बे सङ्घारा अनिच्चा ति यदा पञ्चाय पस्ति ।
अथ निद्विन्दति दुखेऽप्त एस मग्गो विसुद्धिया ॥५॥

20 मग्गवग्गो

‘सभी संस्कार अनित्य हैं’—ऐसा जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखों से निर्वेद (विराग) को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि (निर्वाण) का मार्ग है ।

अचिरं वत्यं कायो पठर्वि अधिसेस्ति ।
छुद्दो अपेतविच्छाणो निरत्यं व कलिङ्गरं ॥१॥

उचित्तवग्गो

अहो ! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतना रहित हो, निरर्थक काष्ठ की भाँति वृद्धी पर पड़ा रहेगा ।

फेणूपमं कायमिमं विदित्वा मरीचिधमं अभिसम्बुधानो ।

छेत्वान मारस्स पपुत्फकानि अदस्सनं मच्चुराजस्सगच्छे ॥३॥

इस शरीर को फेन के समान तथा (मृग) मरीचिका के समान (असार) जान, मार के फन्दों को तोड़कर यमराज की दृष्टि से परे हो जाये ।

फुष्कानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं ।

अतित्तं येव कामेमु अन्तको कुरुते वसं ॥५॥

काम-भोग रूपी पुष्पों को चुनते वाले आसक्ति युक्त पुरुष को, काम-भोगों में अत्युप्त हुये ही मृत्यु अपने वश में कर लेती है । (धम्मपद)

राम गये रावण गये, गये तीर्थंकर ।

जो आत्मा में स्थिर भये, ताके न हरे न फेर ॥

(उपाध्याय कनकनन्दी जी)

प्रण और संकल्प का महत्व

ऐसा व्यक्ति कठिनता से मिलता है जो विश्वासपूर्वक कहे—‘मैं करूँगा, जो कार्य मुझे करना चाहिए, उसे मैं कर सकता हूँ, जो कार्य मैं कर सकता हूँ; मुझे करना चाहिए, जो कार्य मुझे करना चाहिये और मैं कर सकता हूँ; ईश्वर की कृपा से उसे मैं अवश्य करूँगा । क्योंकि मैंने अपने ईश्वर के सम्मुख प्रण किया है कि मैं इसे अवश्य करूँगा ।’

22 सितम्बर 1962 को जिस समय लिंकन ने स्वाधीनता का घोषणा पत्र तैयार किया, और अपनी डायरी में यह प्रण लिखा—‘मैंने ईश्वर के सम्मुख प्रतिज्ञा की है कि मैं इसे करूँगा ।’—उस समय लिंकन ने इह प्रतिज्ञा कर ली कि वह स्वाधीनता की घोषणा करके ही रहेगा ।

इस प्रण के पहले तक उसके मन में सन्देह था, अनिश्चितता थी, उसकी स्वाभाविक सतर्कता थी—इनके प्रभाव के बशीभूत होकर वह निर्णय करने में हिचकिचा रहा था; परन्तु इस प्रण के उपरान्त उसने पूरे मन से निश्चय कर लिया कि वह आगे पीछे की कोई बात नहीं सोचेगा और इसके बाद वह अपने महान् उद्देश्य को कार्यरूप में परिणत करने के लिये ही धृपती समूची शक्ति लगा देगा ।

बहुत ही कम लोग यह जानते हैं कि उत्साहपूर्ण निश्चय में, बारम्बार एक ही निर्णय को मन में दोहराने में निर्णय को चरितार्थ करने के हेतु किए गए प्रण में कितनी शक्ति होती है । महान् कार्य सदा ही तब सम्पन्न होते हैं जब व्यक्ति को यह पूर्ण निश्चय और विश्वास हो जाता है कि जिस काम का उसने बीड़ा उठाया है उसे प्राणप्रण से पूरा करने का प्रयत्न करेगा । इस विधेयात्मक-रचनात्मक-सक्रिय निश्चय को, जो व्यक्ति अपने मन में बारम्बार दोहराता है, उसकी महान् शक्ति जाग्रत हो उठती है, तब उसका निर्णय अटूट और अपरिवर्तनीय हो जाता है ।

आत्मविश्वास-अपनी योग्यता में अटूट विश्वास पैदा होने से मनुष्य में कार्य को पूरा करने की अपूर्व योग्यता उत्पन्न हो जाती है । यह आत्मविश्वास जितना ही प्रगाढ़ और सघन होता है उतनी ही सफलता भी प्राप्त होती है । इदं निष्चय की जितनी मात्रा होती है, सफलता भी उसी परिमाण में प्राप्त होती है । जलयान की तोप द्वारा छोड़े गए गोले में जितनी शक्ति होती है वह उसकी अपनी नहीं होती । वह केंके बाली प्रबल शक्ति गोले के अन्दर प्रविष्ट होकर उसे दूर तक जाने और प्रबल प्रद्वार करने में समर्थ बना देती है ।

कुछ लोग सदा कहते हैं—“यदि ईश्वर की इच्छा हुई।”—“यदि भार्य में ऐसा हुआ।” वे लोग समझते नहीं कि ‘यदि’, ‘किन्तु’ और ‘परन्तु’ आपकी इच्छा शक्ति को दुर्बल कर देते हैं। ‘यदि’ के द्वारा आप अपनी योग्यता में सन्देह करते हैं। ‘किन्तु’ और ‘परन्तु’ द्वारा आप बहाने बनाते हैं, अपने को धीखा देते हैं आत्मवंचना करते हैं। भगवान् की सदा यह इच्छा है कि मनुष्य महान् काम करे। फिर हम बार-बार ‘यदि’ शब्द का प्रयोग क्यों करें? इस ‘यदि’ से ही आपकी कार्यशक्ति की प्रखर धार कुण्ठित होती है, विघ्नों को काटने वाली तलवार ‘यदि’ से कुन्द ही जाती है। इसके विपरीत यदि आप निश्चय हीं और ‘अवश्य हीं’ आदि को प्रयोग करें तो आपकी यह क्रियात्मक, रचनात्मक, विधायिका शक्ति प्रवल ही जाती है।

एक व्यक्ति को मैं भी जानता हूँ और उसके समान हजारों लोग हैं जो कहते हैं—“मैं कभी ‘हाँ’ में उत्तर नहीं देता कि मैं क्या करने जा रहा हूँ, व्योंगि क्या मालूम ईश्वर को क्या स्वीकार है। यदि मैं ‘अवश्य’ कहूँ तो यह भगवान् का अपमान होगा।”

धन्य है ऐसे तर्क को ! क्या ईश्वर को वह मंजूर नहीं कि हम महान् कार्यों
में सफल हों ! जो कायर आत्मा वाले हैं वे ही ऐसा विश्वास नहीं दिला सकते कि
वे कार्य अवश्य करेंगे । जो अपना मूल्य घटाता है, जो अपनी शक्ति को कम औंकता
है, जो अपने को दुर्बल मानता है, वही 'शायद' और 'यदि' का प्रयोग हर बात में
करता है । इह निश्चयी, आत्मविश्वासी, प्रण का इह व्यक्ति तो कहता है—“मैं साहस
हूँ, मैं कर्त्ता हूँ, मैं उत्साह हूँ, मैं शक्ति हूँ, मैं बल हूँ, मैं प्रान्ति हूँ, मैं विपुल धन
सम्पदा हूँ, मैं विशाल हूँ, मैं पूर्ति के अपरिमित भण्डार का एक अंश हूँ, मैं धन
सम्पदा हूँ, मुझे संसार के समग्र पदार्थ विरासत में मिले हैं, मैं ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट
रचना हूँ ।”

दृढ़तापूर्वक निरन्तर अटूट निश्चय कीजिए अपने साथ प्रतिज्ञा कीजिये, प्रण कीजिए कि जो आपकी महत्वाकांक्षा है, उसकी पूर्ति के लिये इतना प्रयत्न और परिश्रम करोगे कि वह कार्य आपके करने योग्य और सम्भव हो जाये। यह मत कहिये—“मैं कभी न कभी सफल हो जाऊँगा।” बल्कि यह कहिये—“मैं सफलता का साकार रूप हूँ। सफलता मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं निश्चित समय के भीतर ही सफलता प्राप्त करूँगा।” यह मत कहिये कि भविष्य में प्रसन्नता प्राप्त

करूँगा, बल्कि यह कहिये—“मेरा जन्म ही प्रसन्न रहने के लिए हुआ है। प्रसन्न रहना और दूसरों को प्रसन्न करना मेरा स्वाभाविक धर्म है।”

मन की ऐसी आदत होनी चाहिये कि वह दावा करे कि “यह काम मेरा है, इसमें मैं निश्चित सफलता प्राप्त करूँगा, मैं अपनी इच्छा को क्रियान्वित करने में अवश्य ही समर्थ होऊँगा।” मन की इस भावना में विराट शक्ति होती है। निरन्तर उत्साह समन्वित होकर अपने मन में यह घोषणा करते रहिये कि मैं स्वास्थ्य हूँ, मैं बल हूँ, मैं पराक्रम हूँ, मैं शक्ति हूँ, मैं सिद्धान्त हूँ, मैं सत्य हूँ, मैं सौन्दर्य हूँ, मैं न्याय हूँ, ईश्वर ने मुझे पूर्णता की मूर्ति बनाया है—सत्य, न्याय और अमर सौन्दर्य का आदर्श रूप बनाया है। इस प्रकार की भावना के द्वारा वास्तव में इन गुणों का जीवन में समावेश हो जाता है।

‘‘मैं वैसा ही हूँ, जैसा कि मुझे होना चाहिये’’ इस विश्वास से ही मनुष्य की कार्यशक्ति दो गुनी हो जाती है। जो व्यक्ति विश्वास रखता है कि वह अतुल धन सम्पत्ति आर्जित कर सकता है, निश्चय ही वह व्यक्ति अतुल धन सम्पत्ति उपार्जित कर सकता है। ऐसा व्यक्ति प्रत्येक भातकान में अपने मन में यह नहीं कहता— मैं कह नहीं सकता कि आज मैं कुछ कर सकूँगा; किन्तु मैं प्रयत्न करूँगा! शायद मैं सफल हो सकूँ या नहीं।’’ इड़ निश्चयी व्यक्ति तो अपने मन में निश्चय और विश्वास का आधार लिये रहता है। वह बार-बार अपने मन के दोहराता रहता है—मैं अवश्य करूँगा, मुझे यह करना ही है।’’ यह निर्णयात्मक निश्चय उसमें ऐसा प्रेरणा जगाता है कि वह अपनी गोजना पर सही ढंग से काम शुरू कर दे और प्रबल शक्ति से उस काम को करे ताकि सफलता निकट आ जाए।

यदि आप प्रण करते हैं—मैं स्वस्थ रहूँगा, मैं धन सम्पदा कमाऊँगा, मैं यह करूँगा और वह करूँगा।” परन्तु आपको स्वयं ही अपने प्रण पर अटल रहने का विश्वास नहीं, यदि आप ‘दुलमुल यकीन’ हैं तो प्रण भी आपकी कोई सहायता नहीं कर सकता। आप जिस बात का प्रण करते हैं, उसमें और अपने प्रण में आपका अटल और अटट विश्वास होना चाहिये।

सुड़ आत्म प्रतिज्ञा में अथाह शक्ति निहित रहती है। उत्साहपूर्वक अपने 'अहं' को प्रकट कीजिए, स्पष्ट घोषणा कीजिए कि मैं करूँगा। जब एक बार आप अपने निर्णय के पीछे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देंगे, काम को सफल बनाने में कुछ भी उठान रखेंगे, तो आपका मार्ग कौन रोक सकता है?

न्यूयॉर्क के एक महान् संगीतज्ञ ने, जो कि लड़कियों को अपेरा के लिये प्रशिक्षित करता था, एक लड़की को, जिसमें संगीत की महान् योग्यता छिपी हुई थी, सम्मति दी कि अपने आत्मविश्वास को जाग्रत करे। उस लड़की में आत्मविश्वास की ही कमी थी। संगीतज्ञ ने उस बालिका को सलाह दी कि वह क्षिणक और संकोच को त्यागकर अपने व्यक्तित्व को व्यक्त करे। इसके लिये वह प्रतिदिन दृष्टण के सम्मुख खड़ी होकर पूरी शक्ति से दोहराया करें—‘मैं, मैं, हाँ, मैं संगीत हूँ। मैं ईश्वर की

शक्ति की मूर्ति प्रतिमा हूँ। मैं स्वर झैँकार की परिपूर्ण मूर्ति हूँ। मैं अपना अभिनय सर्वोत्तम रूप में कर सकती हूँ। मैं सर्वोत्तम अभिनेत्री हूँ। मैं अपना अभिनय सम्मानपूर्ण, गौरवपूर्ण और सशक्त बनाऊँगी।"

उस बालिका ने अपने गुरु की इस सम्मति का अक्षरणः पालन किया। पहले वह एक लज्जाशील, संकोचशील थी जो लोगों के सम्मुख आने में शिक्षकती और हिचकिचाती थी; परन्तु गुरु की सलाह ने वह काम कर दिखाया जो बीसियों प्रयत्नों द्वारा संगीत और अभिनय का पाठ पढ़ाने से भी नहीं हो सकता था। इससे उसका आत्मविश्वास अद्भुत रूप से बढ़ गया। शीघ्र ही उसकी आशंका मिट गई, उसका संकोच दूर हो गया और वह रंगमंच पर चमक उठी।

ऊँचे स्वर से अपने आप अपने सम्मुख प्रतिज्ञा कीजिए, प्रण कीजिए, निश्चय और संकल्प कीजिए, आत्मविकास का यह महान् उपाय है। इस प्रकार का अपने को सुझाव देना, उत्साह में भरकर मन के साथ बातचीत करना-सच्चाई से अपने साथ बात करना—यही एक उपाय है जिसके द्वारा मनुष्य अपने अवचेतन मन में छिपी शक्तियों को जाग्रत कर सकता है; केवल विचार करने से इतनी शक्ति जाग्रत नहीं होती; जितनी आत्मसुझाव से और प्रण से होती है। हम सब जानते हैं कि जब हम उत्साह में भरकर किसी काम का पूर्ण निश्चय करते हैं, जब हम उसे पूर्ण करने का प्रण लेते हैं तो उस दृढ़ संकल्प द्वारा हमारी शक्ति कितनी बढ़ जाती है। जब हम दृढ़ संकल्प को ही बार-बार मन में दोहराते हैं, तो उससे हमारी शक्ति में और वृद्धि होती है। इस प्रकार की पुनरावृत्ति द्वारा हम अपने अर्धचेतन में निहित शक्तियों को पूर्ण रूप से जगा देते हैं, हम अपने स्वरूप को जान लेते हैं, हम उनका विश्वास करने में समर्थ होते हैं और ये शक्तियाँ हमारे लिये आश्चर्यजनक काम करने में समर्थ होती हैं।

ऊँचे स्वर में, जोर से शब्द के उच्चारण करने में जो शक्ति है वह मन में चुपचाप किसी शब्द को दोहराने में नहीं है। जब हम जोर से बोलते हैं तो हमारा हृदय पूरी तरह आनंदोलित हो जाता है। तब उसमें हलचल मच जाती है। ऊँचे स्वर से उच्चारित किये गए शब्दों द्वारा हमारी प्रसुष्ट शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। परन्तु यदि हमें गम्भीर चिन्तन का अभ्यास हो जाए, यदि मन को एकाग्र करने की आदत पड़ जाए, तब जोर से प्रतिज्ञा को दोहराने की आवश्यकता नहीं रहती।

जब हम शब्दों को जोर से बोलते हैं तो उनका हमारे मन पर गहरा और चिरस्थायी प्रभाव पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जैसे पुस्तक आदि से पढ़े हुए शब्दों का हमारे मस्तिष्क पर उन शब्दों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है जिन्हें हम अपने मन में सोचते हैं, और जैसे किन्हीं पदार्थों का मन में चिन्तन करने की अपेक्षा उन्हें आँखों से देखकर अधिक गहरा प्रभाव रखता है। एक स्पष्टता, एक प्रबलता ऊँचे स्वर से उच्चारित किये गए शब्दों में रहती है, विशेषतः जब हम उन्हें सच्चे दिल से और भावावेश में कह जाते हैं। केवल मन में उन विचारों को सोचने का इतना

गहरा और स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। यदि आप खूब जोर से शब्दों का उच्चारण करें, उत्साह से बोले, भावावेश में बोले, वह निश्चय से बोलें तो इसकी अधिक आशा है कि आप उसे क्रियान्वित करके रहेंगे।

हम अपने मन में उठने वाले निःशब्द विचारों के इतने अध्यस्त हो जाते हैं कि उनकी आवाज बहुत कम सुन पाते हैं, किन्तु जब हम अपने विचारों को खूब जोर से बोलते हैं तो हम जागरूक होकर अपनी इच्छाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करने में समर्थ हो जाते हैं। खूब जोर से जब हम अपने सामने कोई निश्चय करते हैं तो उसका हमारे मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

ऊँचे स्वर से कहीं गई अपने को उत्साहित करने वाली बात एक ऐसा उपचार है जिससे अद्भुत परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। इससे हम अपनी दुर्बलताओं को दूर करने, अपनी त्रुटियों को दूर करने में समर्थ होते हैं।

हमारे एक मित्र ने हमें बताया कि वह जोर से अपने को अपनी त्रुटियाँ और कमजोरियाँ बतलाता है। इसका बड़ा गम्भीर प्रभाव हुआ। त्रुटियाँ और कमजोरियाँ दूर होने लगीं। यह व्यक्ति जीवन में आश्चर्यजनक रूप से सफल हुआ। हृदय जब अपने से ही बात करता है, तब वह बिना जिज्ञासे अपनी कमजोरियाँ प्रगट कर देता है, इससे कमजोरियाँ दबी नहीं रहती—उनका रहस्य प्रगट हो जाता है और फिर मनुष्य उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है।

मनुष्य यदि यह समझता है कि उसकी महत्वाकांक्षा में कोई कमी है, तो मानसिक अभ्यास द्वारा वह महत्वाकांक्षा को प्रखर और प्रबल बना सकता है। यदि वह समझता है कि उसके कार्य का स्तर ऊँचा नहीं, तो आत्मसम्बोधन द्वारा वह अपने कार्य के स्तर को ऊँचा उठा सकता है। यदि वह समझता है कि उद्देश्य पर उसका विश्वास दृढ़ नहीं है, तो अपने से ही बातलाप कर वह प्रतिदिन अपने विश्वास को दृढ़ से दृढ़तर कर सकता है।

उक्त मित्र ने बताया—"मैं प्रतिदिन प्रभात में वह निश्चय करता हूँ कि मैं बड़ा आदमी बनने जा रहा हूँ। मैं अधिक ऊँचा काम करने के लिए संसार में आया हूँ। मैं संसार में महत्वपूर्ण व्यक्ति बनने के लिए पैदा हुआ हूँ" इसी प्रकार सायंकाल वह अपने मन से यह बातचीत भी किया करता है—"दिन भर में आज मैं अमुक-अमुक कार्य में असफल हुआ, कल यह—यह काम करना है। कल मेरा पारा चढ़ गया था, वह मेरी भूल थी, मैं सूखे बने गया था, कल की चेष्टा से मैं अपने कर्मचारियों में नीच और हीन हुआ। यह काम मेरे लिए उचित नहीं था, मैं आइन्दा ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा।"

उक्त मित्र में एक दुर्बलता यह भी थी कि शीघ्र निश्चय नहीं कर पाता था। वह किसी महत्वपूर्ण कार्य में तुरन्त निर्णय इस भय से नहीं करता था कि कहीं दुबारा उस पर विचार न करना पड़ जाए। वह निर्णयों को अन्तिम घड़ी तक टालता रहता था। उसके पत्रों के लिफाफे बन्द नहीं किये होते थे, पढ़ों पर हस्ताक्षर नहीं

किये होते थे, ठेकों पर निर्णय नहीं किया गया होता था। जब अन्तिम तिथि और अंतिम समय आता था तब वह सभी कार्यों को हड़बड़ी से करता था। इस घबराहट में अनेक प्रकार की भूलें हो जाया करती थीं।

उसने एक दिन अपनी भूल को समझा और उस दिन से वह हर रोज अपने सामने अपनी भूल को दोहराता था। वह यह भी कहता था कि इस भूल के कारण उसका जीवन ऊँचा नहीं उठ सकेगा; क्योंकि सभी सफल व्यक्तियों में, कार्यकारी प्राधिकारियों में तुरन्त एवं अटल निर्णय की शक्ति होती है।

भूल या तुटि कैसी भी हो, वह प्रगति में भयंकर बाधक होती है, चाहे काम को टालने की लुटिपूर्ण आदत हो या समय का पालन न करने की आदत हो अथवा शीघ्र करने से भड़क उठने की आदत हो या कर्मचारियों के साथ तक़हीन व्यवहार की आदत हो; अर्थात् कोई भी बुरी आदत हो, वह मनुष्यों को दुर्बल बना देती है। परन्तु जब मनुष्य अपने मन के साथ इन पर वार्तालाप करता है, तो वह इन आदतों को छोड़ने का निश्चय करता है, तब वह अपने अधिक श्रेष्ठ, अधिक दिव्य, अधिक गौरवशाली स्वरूप को प्रगट करता है। तब वह अपने सामने बारबार उस आदर्श मूर्ति की कल्पना करता है जिसके तुल्य वह स्वयं बनना चाहता है। तब वह निरन्तर अपनी योग्यता का समर्थन करता है और हाथ में लिये काम को पूर्ण करने का प्रण करता है।

सफलता के लिए इस प्रकार का आत्म उद्बोधन जितना सहायक होता है, उतना कोई भी अन्य उपाय नहीं होता।

युग्मांक का एक अन्य युवक प्रतिदिन प्रातःकाल सेन्ट्रल पार्क में भ्रमण करने जाया करता था। उस समय वह अन्तर्मन से वार्तालाप किया करता था। इस वार्तालाप में वह अपने आप से कहा करता था—“दिन भर चाहे कुछ भी हो, मुझे अपने आपको आपे से बाहर नहीं होने देना चाहिए। चाहे परिस्थितियाँ कुछ भी हों मुझे सज्जन बने रहना चाहिए, मुझे सोच, चिन्ता आदि दुर्बलता के भावों को मन में नहीं आने देना चाहिए; क्योंकि इनसे शक्ति क्षीण होती है। परन्तु मुझे पूर्ण प्रभावशाली ढंग से कार्य करते रहना चाहिए।” उस युवक ने बताया कि इस आत्मसुधार की विधि से उसकी कार्यकुशलता में भारी बढ़ि हो गई। इसके साथ काम के बाद जो थकान हुआ करती थी उसमें भी बहुत कमी आ गई। आत्मसुधार की यह प्रक्रिया एक विशेष बलबद्धक औषधि का काम करती है। इससे श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर कार्य-शक्ति का निर्माण होता है। आत्म-सम्बोधन से मन के साथ वार्तालाप करने से मनुष्य की दिन दूनी और रात चौंगुनी उत्पत्ति होती है।

उपर्युक्त नवयुवकों की विधि अपनाकर प्रत्येक मनुष्य अपनी सहायता आप कर सकता है। इस प्रकार अपने मन से वार्तालाप करके मनुष्य उसी लाभ को प्राप्त कर सकता है, जो किसी अच्छे सलाहकार हित चिन्तक से बातचीत करके प्राप्त होता है।

जब भी आपको आत्म सम्बोधन का अवसर मिले, आप ऐसे एकान्त स्थल पर चले जाएँ, जहाँ और कोई न हो। तब आप अपने किये निश्चय पर विचार करें, अपने आप से बातचीत करें। यदि आवश्यकता हो तो भावावेश से अपने को सँवारने, सुधारने का निश्चय करें। शीघ्र ही आप यह देखकर चकित रह जाएँगे कि आप में लाभकारी परिवर्तन आता जा रहा है। इस समय में किये गये निश्चय इतने प्रभावशाली होंगे कि आप उन पर स्थिर रहेंगे। तब आप अपनी सम्मति के अनुसार आचरण करने की अधिक शक्ति और योग्यता प्राप्त करेंगे।

यदि आप में कोई दोषपूर्ण आदत होगी जिसके कारण आप अपने काम में पिछड़े हुए हैं, अथवा इच्छा के अनुकूल सफल नहीं हो रहे हैं, तो जिस आदत ने आपकी जीवन शक्ति को क्षीण करना आरम्भ किया हुआ है, उस आदत को सर्वथा त्याग देने की सामर्थ्य आप में आत्म सम्बोधन की प्रक्रिया द्वारा आ जाएगी। आप में ऐसी शक्ति आ जाएगी कि आप अपनी दुर्बलता पर विजय प्राप्त कर सकें, आत्म सम्बोधन के क्षण में आप अपने से कहेंगे—“यह है वह आदत, जो मेरी शक्ति को नष्ट कर रही है। इसके कारण मैं अपने काम में उत्साही और साहसी नहीं रहा। इसी के कारण मैं इतना कार्य-कुशल नहीं रहा जितना कि मुझे होना चाहिए। इसी के कारण मैं अपने मन को उस प्रकार बश में नहीं कर पाता, जिस प्रकार मैं चाहता हूँ। इस बुरी आदत ने मुझे क्षीण, दुर्बल और दीन बना रखा है। अब मैं निश्चय करता हूँ कि इसे सर्वथा छोड़ दूँगा। इस बुरी आदत का लेशमात्र भी मैं अपने में नहीं रहने दूँगा। इस क्षीण करने वाली आदत के कारण ही मैं जीवन में पिछड़ा हुआ हूँ। इसी के कारण मैं लोगों के उपहास का पात्र बना हूँ। इसी के कारण मैं दूसरों के मुकाबले में टिक नहीं पाता। यद्यपि मुझमें उन व्यक्तियों से कहीं अधिक योग्यता है जो मेरे मुकाबले पर काम करते हैं, परन्तु वे मुझसे अधिक अच्छा काम कर जाते हैं, जबकि अपनी इस एक गन्दी आदत के कारण मैं पीछे रह जाता हूँ। अब मैं इस गन्दी आदत से छुटकारा पाने का निश्चय करता हूँ, जिसने मेरे भविष्य को अंधकारमय बना रखा है। मुझे हर क्षेत्र पर इससे छुटकारा पाना है, मुझे अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है।”

यदि आपका दोष दुराचार है, तो अपने मन से कहिये—“मेरे जीवन को कलंकित करने वाली इससे बुरी बात और नहीं है। मैं अपने भविष्य के सुख और आनन्द की स्वयं नष्ट कर रहा हूँ। यह एक अभिशाप है जो मेरे जीवन का कलंक है। यह मेरी मनुष्यता का अपमान है। इसके द्वारा मैं अपनी पत्नी और सन्तान का भविष्य अन्धकारमय बना रहा हूँ। इसके सिवा मुझमें ऐसा कोई दोष नहीं, जो मेरी मानवता का नाशक हो। यह कुटेव मेरे चरित्र, आत्मसम्मान एवं पवित्र निश्चयों को नष्ट करने वाली है। यह जीवन के सुवृत्तसरों का लाभ उठाने से वंचित करने वाली है। इसके कारण मैं अपनी ही दृष्टि में गिर गया हूँ। मुझे इसके कारण भावी जीवन में पश्चात्ताप की अग्नि में जलना पड़ेगा। इसी के कारण मैं अपने किसी भी

काम में सफल नहीं हो रहा। मैं अब और खतरा नहीं उठा सकता। अकस्मात् ऐसी कोई घटना नहीं होगी, जिससे मेरी वह बुरी आदत छूट जाए। इसलिए मैं निश्चय करता हूँ कि अपनी मर्जी से इस बला को अपने से दूर कर दूँ। मैं और अधिक खतरा नहीं उठा सकता। मैं इसी समय इस बुरी आदत को छोड़ने का निश्चय करता हूँ। हे मेरे मन के पाप ! दूर हो जा दूर हो जा ।'

जब भी आप अकेले हों अपने आपसे इसी तरह की बातचीन कीजिए और उस बुरी आदत को छोड़ने का निश्चय बारम्बार दोहराइये। इस बारम्बार के निश्चय द्वारा आपकी इच्छाशक्ति इतनी ढढ़ और प्रबल हो जाएगी कि आपकी वह दुर्बलता जड़ से उखड़ जाएगी। जहाँ आप प्रबल हुए वहाँ बुरी आदत दुर्बल पड़कर नष्ट हो जाएगी।

चिन्तन एवं आत्म सम्बोधन के समय आपको अपने निश्चय पर अटल रहने का प्रण करना चाहिए, अपनी अयोग्यता और दुर्बलता पर विजय प्राप्त करने की अपनी क्षमता पर विचार करना चाहिये और उसे और अधिक समर्थ बनाने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। अपनी शक्ति का विचार कीजिए, अपनी सामर्थ्य का ध्यान कीजिए, इस दुर्बलता की, इस कुटेव की क्या शक्ति है जो आपको अपने कावृ में कर सके ? बस देर इस बात की है कि आप इसे समूल नष्ट करने का बीड़ा उठायें।

यह कभी मत कहिये कि, "यह बुरी आदत लग गई, छूट नहीं सकती।" सदा मन में ढढ़ों में प्रण कीजिए—“मैं प्रबल मनुष्य हूँ। मैं जैसा चाहूँगा, वैसा बनूँगा। मैं अपनी इस बुराई की जड़ खोदकर रहूँगा। लो, मैंने आज से, नहीं-नहीं इसी समय से छोड़ा। बस अब यह मेरे पास नहीं आ सकती। हः-हः-हः मैंने अपनी बुरी आदत पर विजय प्राप्त कर ली। मेरा जन्म इसलिए नहीं हुआ कि बदनाम, दुष्ट या पारी कहलाऊँ। ईश्वर ने मुझे इसलिए नहीं बनाया कि मैं एक गन्दा आदमी बनूँ। मैं जब तक इस कुटेव के बश में हूँ, कभी अपनी योग्यताओं का सर्वोत्तम लाभ प्राप्त नहीं कर सकता, कभी ऊँचा उठने के योग्य नहीं हो सकता। मुझे अपना सम्मान प्यारा है। मैं आत्म-सम्मान की रक्षा करूँगा। मैं इस आदत का गुलाम नहीं हूँ। मेरे जीवन में यह बुरी आदत अब कभी न आएगी। लो आज मैंने इसी जड़ उखाड़ दी। बस अब कभी नहीं, कभी नहीं।”

इस प्रकार के आत्म सम्बोधन से—मन के साथ किये गए वार्तालाप से आप देखेंगे कि किस प्रकार आपके शारीरिक ढंग के ढाँचे में परिवर्तन आ गया है, किस प्रकार आपकी दिनचर्या बदल गई है, किस प्रकार आपकी कार्यविधि परिवर्तित हो गई है। आपको अपनी विजय पर सुख की अनुभूति होगी; आपकी मनचाही प्रगति और उत्तमता होगी।

पहले आपको अपने आपसे बातचीत करना मूर्खतापूर्ण प्रतीत होगा। आप इसका महत्त्व एकाएक जान सही सकेंगे। परन्तु ज्यों ही आपको विदित होगा कि

इस प्रक्रिया द्वारा आप में किस प्रकार दिनोंदिन शक्ति का संचार होता जा रहा है, तो आप प्रतिदिन इस अध्यास को दोहराने लगेंगे।

आपका चाहे बड़ा दोष हो या छोटा, आत्म सम्बोधन की विधि से दूर किया जा सकता है। आपका स्वभाव दब्बूपने का हो, आप लोगों का सामना करने में शर्मते हों, आपको अपनी योग्यता पर विश्वास न रहा हो, आपको कोई बुरी लत लग गई हो—इन सभी से छुटकारा पाने की रामबाण औषधि आत्म सम्बोधन है।

मनुष्यों का जन्म गौरवशाली कार्यों के लिये हुआ है। उसकी रीढ़ की हड्डी मजबूत होनी चाहिए, उसके पाँव स्थिर होने चाहिए, उसकी इष्ट निर्भय होनी चाहिए। मनुष्य का जन्म कीचड़ में गिरने के लिए नहीं हुआ, लजाने या शर्मने के लिए नहीं हुआ, निन्दित जीवन व्यतीत करने के लिये नहीं हुआ, धमा याचना करने के लिए नहीं हुआ, अपमान सहने के लिए नहीं हुआ, दुर्बल, दुष्ट, कायर कहलाने के लिए नहीं हुआ।

यदि आपमें कार्यारम्भ की क्षमता नहीं, तो अपने मन में ढढ़ता से निश्चय कीजिए कि आप काम को शुरू करेंगे। जब काम शुरू करें तो ढढ़ता से प्रण कीजिए कि इसे पूर्ण करके रहेंगे। निश्चय के बाद जुट जाइये। काम को अच्छे से अच्छा बनाइये और अपनी तमाम शक्ति तथा कार्यकुशलता उसमें झोंक दीजिए। एकाग्र मन से निरन्तर परिश्रम कीजिए। फिर देखिये, कैसे सफलता के फूल खिलते हैं।

यदि आप संकोची स्वभाव के हैं, यदि आप मित्र बनाने की कला नहीं जानते, यदि आप अपने को घटिया समझते हैं, यदि आप यह समझते हैं कि आप उतने अच्छे नहीं जितने कि अन्य लोग हैं—तो निश्चय कर लीजिये कि आप अपने में परिवर्तन लाएँगे। अपने साथ बातचीत करके उस शक्ति को प्राप्त कीजिए जो आपकी सारी बुराइयों और शक्तियों को नष्ट कर देगी।

मन में कभी यह बात न आने दीजिए कि जो लोग आपको देख रहे हैं और आपकी हँसी उड़ा रहे हैं। अपने को मनुष्य समझिये, श्रेष्ठ व्यवहार कीजिए। फिर लोगों की क्या मजाल है जो आपकी हँसी उड़ाएँ ! “मैं श्रेष्ठ मनुष्य हूँ, मैं राजकुमार हूँ, मैं ईश्वर की श्रेष्ठ रचना हूँ। फिर मैं किस कारण अपने को घटिया समझूँ ? मैं किस बात में निकृष्ट हूँ ? मैं उन सब श्रेष्ठ कर्मों को करने में समर्थ हूँ, जिन्हें कोई भी अन्य मनुष्य कर सकता है। मेरे जीवन का लक्ष्य है पूर्ण मनुष्य बनना। प्रत्येक स्थिति का सामना करने की मुझमें ताकत है, फिर मैं हार क्यों मानूँ ?

यदि आप शीघ्र निर्णय नहीं कर पाते, यदि आपको निरन्तर सोचते रहने, दुविधा में पड़े रहने असमंजस में ढूबे रहने की आदत पड़ गई है, तो एकान्त में अपने आप से ढढ़ता से कहिए—“हे मन ! जल्दी और दो टूक फैसला कर ।”

आप निश्चय कर लीजिए कि आप काम को इस रफतार से करें कि आपको या किसी अन्य व्यक्ति को आपकी सफलता में तनिक भी सन्देह न रहे। अपने मन से कहिये—“काम न करने से तो यही अच्छा है कि काम किया जाए, भले ही उसमें भूलें हों। भूलों से भी मनुष्य सीखता है।”

यदि आप किसी कठिन काम का बीड़ा उठाते हैं जो असम्भव प्रतीत होता है, परन्तु उसे करने की आप पर जिम्मेदारी आ पड़ी है, तो किसी एकान्त स्थल पर चले जाइये। अपने आप से वार्तालाप आरम्भ कर दीजिए। ऐसे अपने आपसे बातचीत कीजिए जैसे किसी प्रिय मित्र से की जाती है, जिसमें काम करने की योग्यता तो है परन्तु साहस का अभाव है। इस बातचीत में अपने निश्चय का प्रण कीजिए। आत्मविश्वास को प्रबल कीजिए। विजयी व्यक्तित्व बनाइये और पूरे उत्साह, जोश तथा उमंग में भरकर काम शुरू कर दीजिए।

इस प्रकार से आत्म सम्बोधन के समय, यदि आप अपने प्रति ईमानदार हों, यदि दृढ़ता से अपने निश्चय को दोहरायेंगे, यदि आप अपने निर्णय को अन्तिम, अटूट और अपरिवर्तनीय मान लेंगे, तो आपको आश्चर्य होगा कि वह काम सरल हो हो गया है और आपकी कार्यशक्ति महान हो गई है। आपका उत्साह बढ़ जाएगा, आपके साहस में वृद्धि होगी, आपका आत्मविश्वास प्रबल हो जाएगा, अपने विचारों को क्रियान्वित करने की सामर्थ्य महान हो जाएगी।

जो दब्बू है, लज्जाशील है, उसके लिए अपने मन से बातचीत करने जैसा कोई उपचार नहीं। जो आत्मविश्वास खो चुका है, उसके लिए पुनः आत्मनिर्भरता प्राप्त करके कार्यलीन होने के लिए आत्म सम्बोधन से बढ़कर कोई अन्य उपाय नहीं है।

जब मनुष्य अपने महत्त्व का अनुभव कर लेता है, जब अपने दिव्य गौरव का उसे भान होता है, तो वह लघुता से ऊपर उठ जाता है। तब वह दीन-हीन नहीं रहता, साधारण नहीं रहता। जिसे अपनी कृतुत्व शक्ति का बोध हो जाता है, वह धूल में पड़ा रहने पर सन्तुष्ट नहीं होता। वह अपने अभिवांछित गौरवपूर्ण पद को प्राप्त करके ही रहता है।

जिन पदार्थों की आप कामना करते हैं, उन्हें अपने वश में करने का प्रण कीजिए। जिन गुणों को अपने अन्दर लाने की आप आकांक्षा करते हैं उन्हें प्राप्त कराने का दृढ़ संकल्प कीजिए। अपने उद्देश्य की ओर मन को पूरी तरह से लगाइये। उसकी तुच्छ इच्छाओं को दूर हटाकर लक्ष्य पर उसके सम्पूर्ण विचारों को केन्द्रित कर दीजिए। जाइये, आपको वरदान है कि आपकी मनोकामना पूर्ण होगी।

(स्वेटमार्डन)

अध्याय

3

अशरण—अनुप्रेक्षा

संसार में शरण दो प्रकार का है—एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर। तथा वे दोनों ही जीव, अजीव और मिश्र के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। राजा, देवता आदि लौकिक जीवशरण हैं। कोट, शहर, पनाह आदि लौकिक अजीव शरण हैं और कोट खाई, सहित गाँव, नगर आदि लौकिक मिश्र शरण हैं। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पाँचों ही गृह लोकोत्तर जीव शरण हैं। इन अरिहन्त आदि के प्रतिविव आदि लोकोत्तर अजीव शरण हैं। धर्म सहित साधुओं का समुदाय तथा उनके उपकरण आदि लोकोत्तर मिश्र शरण हैं। जिस प्रकार किसी एकान्त स्थान में अत्यन्त बलवान् भूखा और मांस का लोलुपी बाघ किसी हिरण के बच्चे को पकड़ लेता है और फिर उसे कोई नहीं बचा सकता इसी प्रकार जन्म, जरा, (बुद्धापा) व्याधियाँ, इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, इष्ट का लाभ न होना, दरिद्रता, दुर्मनस्कता (मन का चंचल रहना) आदि से उत्पन्न हुए, अनेक दुःखों से ग्रसित हुये इन प्राणी को कोई शरण नहीं है अर्थात् उन दुःखों से इसे कोई नहीं बचा सकता। यह अत्यन्त पुष्ट किया हुआ वा पालापोसा हुआ शरीर भी केवल भोजन के लिये सहायक होता है परन्तु किसी आपत्ति के आ जाने पर यह विल्कुल सहायता नहीं देता। बड़े यत्न से संचित किया हुआ धन भी दूसरे जन्म में साथ नहीं जाता। सुख दुःख को बांटने वाले मिश्रगण भी मरने के समय रक्षा नहीं कर सकते और भाई बन्धु सब मिलकर भी उस रोगी पुरुष को नहीं बचा सकते। इस संसार में इस जीव का यदि कोई सहायक है तो अच्छी तरह आचरण किया हुआ धर्म ही है। यह धर्म ही संसार रूपी महासागर से पार होने का साधन है जिस समय मृत्यु इस जीव को ले जाने लगती है उस समय इन्द्र भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता इसलिये संसार की समस्त आपत्तियों के समय एक धर्म ही शरण है मित्र और धन भी इस जीव के साथी नहीं हैं अतएव इस संसार में कोई भी शरण नहीं है। इस प्रकार चित्तवन करना अशरणानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इस अनुप्रेक्षा के चित्तवन से “मैं सदा अशरण हूँ अर्थात् मेरा कोई शरण नहीं है।” इस तरह की भावना से इस जीव का चित्त सदा उद्घिन या विरक्त रहता है और फिर विरक्त परिणाम होने से संसार के समस्त पदार्थों से उसका ममत्व छूट जाता है तथा भगवान् सर्वज्ञ अरिहन्त देव के कहे हुए आगम में उसका चित्त तल्लीन हो जाता है। (चारिवसार पृ० 169)

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विजजाओ ।
मच्चुभ्यस्स ण सरण णिगडी णीदी य णीया य ॥६९७॥

(मूलाचार II)

मत्यु के भय आदि के उपस्थित होने पर घोड़ा, हाथी, रथ, मनुष्य, सेना, वाहन, मन्त्र औषधि तथा प्रज्ञप्ति आदि नाना प्रकार की विधायें शरण नहीं हैं अर्थात् ये कोई भी मृत्यु से बचा नहीं सकते हैं । निकृति—बंचना अर्थात् ठगना, नीति-चाणक्यविद्या अथवा 'स्वपक्ष की बुद्धि' और परपक्ष की हानि के प्रतिपादन का उपाय नीति है ।' वह नीति साम, उपप्रदान, भेद और दण्ड के भेद से चार प्रकार की है । जिसमें प्रिय हित बचन साधन है और आत्मीयता का प्रयोग होता है वह सामनीति है । नाना प्रकार के द्रव्यों का प्रदान करना उपप्रदान नीति है । त्रास देना भत्संना आदि करना भेद नीति है तथा ताड़न, छेदन करना दण्डनीति है । भाई-बन्धु आदि निज कहलाते हैं इत्यादि सभी नीतियाँ व वन्धु वर्ग आदि कोई भ मृत्यु भय के आ जाने पर शरण नहीं हैं ऐसा चिंतवन करना चाहिये ।

जन्मजरामरणसमाहिदह्या सरण ण विजजदे लोए ।

जरमरणमहारितवारण तु जिणसासण मुच्चा ॥६९८॥

जन्म-जरा-मरण से सहित इस जगत् में जरा और मरणरूप महाशत्रु का निवारण करने वाले ऐसे जिनशासन को छोड़कर अन्य कोई शरण नहीं है ।

मरणभयह्य उवगदे देवा वि सहंदया ण तारंति ।

धर्मो त्ताण सरण गदिति चितेहि सरणत्तं ॥६९९॥

मरणभय के उपस्थित होने पर देवेन्द्र सहित सुर-असुरगण भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते हैं । इसलिये जिनेन्द्र देव द्वारा कथित धर्म ही रक्षक है, आश्रय है और वही एक गति है ऐसा चिंतवन करो, क्योंकि अन्य कोई भी आश्रयभूत नहीं है किन्तु यह धर्म ही त्राता है । जिनके लिये कोई भी गति नहीं है उनके लिये वही एक गति है ऐसा जानकर एक मात्र धर्म को ही शरण समझो । यह अशरण भावना हुई ।

न स को इपस्ति दुर्बुद्धे शरीरी भुवनन्त्रये ।

यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाशः प्रसरिष्यति ॥४८॥

(ज्ञानार्णव पृ० 37)

अशरण भावना—हे अज्ञानी प्राणी ! तीनों लोकों में ऐसा कोई भी शरीरधारी जीव नहीं है जिसके गले में यम की फाँस न फैलने वाली हो सब ही प्राणी मृत्यु के ग्रास बनने वाले हैं, स्थिर रहने वाला यहाँ कोई भी नहीं है ।

समापतति दुर्बारे यमकण्ठीरवक्त मे ।

त्रायते इं न हि प्राणी सोद्योगैस्त्वदशैरपि ॥४९॥

दुनिवार मृत्युरूप तिह के पैर के पड़ने पर इस प्राणी को अन्य की तो बात क्या, किन्तु अतिशय प्रयत्नशील देव भी नहीं बचा सकते हैं ।

सुरासुरनराहीन्द्रनायकैरपि दुर्धरा ।

जीवलोकं क्षणादेन वह नाति यमदागुरा ॥५०॥

जिस यमराज की वागुरा को—मृगों को फँसाने वाले व्याध के जाल को इन्द्र, असुरेन्द्र, चक्रवर्ती और धरणेन्द्र (या शेषनाग) भी नहीं रोक सकते हैं । वह प्राणी समूह को आधे ही क्षण में वाँध लेती है ।

जगत्वयजयी वीर एक एवान्तकः स्फुटम् ।

इच्छामात्रेण यस्यते पतन्ति त्रिवशेश्वरः ॥५१॥

जिसकी इच्छामात्र से ये कल्पवासी इन्द्र भी च्युत हो जाते हैं—मरण को प्राप्त होते हैं—वह तीनों लोकों को जीतने वाला यमराज ही एक अद्वितीय सुभट है, यह स्पष्ट है—जग जाहिर है ।

शोचन्ति स्वजनं मूर्खः स्वकर्मफलभोगिनम् ।

नात्मानं बुद्धि विधवंसाद्यमदंद्रान्तरस्थितम् ॥५२॥

जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है वे मूर्ख अपने कर्म के फल को भोगने वाले अपने आयुकर्म के क्षीण हो जाने पर मरण को प्राप्त हुए कुटुम्बी जन का तो शोक करते हैं, किन्तु स्वयं अपने आपको यम की दाढ़ों के बीच में स्थित मरणोन्मुख नहीं देखते हैं ।

अस्मन् संसारकान्तारे यमभोगीन्द्रसेविते ।

पुराणपुरुषाः पूर्वमनन्ताः प्रलयं गताः ॥५३॥

यमरूप सर्वराज से सेवित इस संसार रूप वन के भीतर पहिले अनन्त पुराण पुरुष-पुराणों में वर्णित तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती आदि मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं, अर्थात् उनकी भी रक्षा नहीं हो सकी है ।

प्रतीकारशतेनापि त्रिवशेनं निवार्यते ।

यत्रायमन्तकः पापी नूकीटैस्तत्र का कथा ॥५४॥

इस पापी यमराज को जहाँ सैकड़ों प्रकार से प्रतीकार का प्रयत्न वरके देव भी नहीं रोक सकते हैं, वहाँ क्षुद्र मनुष्यरूप कीड़ों की तो बात ही क्या ? वे तो उसका निवारण किसी प्रकार से भी नहीं कर सकते हैं ।

गर्भादारश्य नीयन्ते प्रतिक्षणमखण्डतः ।

प्रयाणः प्राणिनो मूढ कर्मण्य यममन्दिरम् ॥५५॥

हे मूर्ख ! कर्म के द्वारा ये प्राणी गर्भ से लेकर प्रति समय में स्थिर प्रयाणों (पड़ाव-बीच में ठहरने के स्थान) के द्वारा यमालय को ले जाये जाते हैं । अभिप्राय यह है कि अपने-अपने कर्म के अनुसार कोई प्राणी गर्भवस्था में ही, कोई जन्म लेने पर और कोई शैशव आदि (कुमार, युवा, बृद्धत्व) अवस्था में नियम से मरण को प्राप्त होते हैं ।

यदि हृष्टः श्रुतो वास्ति यमाज्ञावञ्चको बली ।

तमाराध्य भज स्वास्थ्यं नैवं चेत्क वृथा श्रमः ॥५६॥

हे मूर्ख ! यदि तूने यम की आज्ञा को ठुकराने वाले, कभी भी न मरने वाले, किसी भी बलवान को देखा हो या सुना हो तो उसकी आराधना करके स्वास्थ्य की सेवा कर, शरीर को स्वस्थ रखने के लिये उसका पोषण भले कर, परन्तु वैसे किसी बलवान को यदि कहीं पर न देखा है और न सुना है तो फिर उस शरीर को स्थिर रखने के लिये परिश्रम करना व्यर्थ है उचित नहीं है ।

परस्पेव न जानाति विपत्ति स्वस्थ मूढधीः ।
वने सत्त्वसमाकीर्णं दह्यमाने तत्त्वस्थवत् ॥५७॥

जिस प्रकार अनेक पशु पक्षियों से व्याप्त वन में आग के लग जाने पर वृक्ष पर स्थित मनुष्य अन्य प्राणियों को तो जलता हुआ देखता है, परन्तु यह नहीं सोचता कि इस वृक्ष के जनने पर मैं भी उसी में भस्म हो जाने वाला हूँ, इसी प्रकार अज्ञानी जीव दूसरे की विपत्ति को तो जानता है, परन्तु उसी के समान मुझे भी वह विपत्ति प्राप्त होने वाली है, इसका विचार नहीं करता है ।

यथा वालं तथा वृद्धं यथादृथं दुर्विधं तथा ।
यथा शूरं तथा भीरूं साम्येन ग्रसतेऽन्तकः ॥५८॥

यम (मृत्यु) जैसे बालक को ग्रसता है, वैसे ही वह वृद्ध को भी ग्रसता है, जैसे धनवान मनुष्य को ग्रसता है, वैसे ही निर्धन मनुष्य को भी ग्रसता है, तथा जैसे वीर सुभट को ग्रसता है, वैसे ही कायर को भी ग्रसता है । इस प्रकार वह बिना किसी प्रकार के भेदभाव के सभी प्राणियों को समानरूप से ग्रसता है उसके आक्रमण से कोई भी प्राणी नहीं बच सकता है ।

गजाश्वनरसैन्यानि मन्त्रौषधबलानि च ।
व्यर्थोभवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिनां यमे ॥५९॥

उस यम के प्राणियों के विरुद्ध होने पर हाथी, घोड़ा, मनुष्य और सेना तथा मन्त्र व औषधि की भी सब शक्तियाँ निरर्थक होती हैं उसके सामने इनमें से किसी का भी प्रभाव नहीं चलता है ।

विक्रमं करस्तावज्जनः सर्वोऽपि वल्गति ।
न शुणोत्यद्यं यावत् कृतान्तहरिगर्जितम् ॥६०॥

जब तक यमरूप सिंह की निर्देश (भयानक) गर्जना नहीं सुनी जाती तब तक सब ही प्राणी अपने पराक्रम में चूर होते हुए प्रवृत्तमान देखे जाते हैं मृत्यु का आक्रमण होने पर सभी का पराक्रम नष्ट हो जाता है ।

अकृताभीष्ट कल्याणमसिद्धारध्वविष्टतम् ।
प्रागेवागत्य निर्स्त्रशो हन्ति लोकं यमः क्षणे ॥६१॥

जिस प्राणी ने अपने अभिष्ट हित को नहीं किया है तथा जिसकी आरम्भ किये हुए कार्य के पूर्ण करने की इच्छा भी सिद्ध नहीं हो सकी है जो प्रारम्भ किये

हुए कार्य को अभी पूरा भी नहीं कर सका है, ऐसे प्राणी को वह यम पहिले ही आकार क्षणभर में मार डालता है ।

रुद्राशागजदेवदेवत्यखचरप्राहृष्टव्यन्तरा,
दिवक्याला: प्रतिशत्रवो हरिवलव्यालेन्द्रचक्रेश्वराः ।
ये चान्ये मरुदर्यमादिबलिनः संभूय सर्वे स्वयं,
नारव्यं यमर्किकरैः क्षणमपि त्रातुं क्षमा देहिनम् ॥६३॥

महादेव, दिग्गज, देव, दैत्य, विद्याधर, ग्राह (हिंसक जलजन्तु) ग्रह (शनि आदि) व्यन्तर, दिक्पाल, प्रतिनाराण, नारायण, बलदेव धरणेन्द्र और चक्रवर्ती तथा अन्य भी वायु एवं सूर्य आदि बलवान ये सब स्वयं मिल करके भी यम के दूतों के द्वारा ग्रहण करने के लिये प्रारम्भ किये गये (मरणोन्मुख) प्राणी की क्षणभर भी रक्षा करने के लिये समर्थ नहीं है ।

अनाथः सर्वसंसारी

गज, अश्व तथा मणि-माणिक्य आदि प्रचुर रत्नों से समृद्ध मगध का अधिपति राजा श्रेणिक मणिकुक्षि चैत्य उद्यान में विहार यात्रा के लिये नगर से निकला । वह उद्यान विविध प्रकार के वृक्षों एवं लताओं से आकीर्ण था, नाना प्रकार के पक्षियों से परिसेवित था और विविध प्रकार के पुष्पों से भली-भांति आच्छादित था । कि बहुना, नन्दन वन के समान था । राजा के उद्यान में वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक संयत, समाधि-सम्पन्न, सुकुमार एवं सुखोचित सुखोपभोग के योग्य साधु को देखा । साधु के अनुपम सुख को देखकर राजा को उसके प्रति बहुत ही अधिक अतुलनीय चिस्मय हुआ । अहो, क्या वर्ण (रंग) है ? क्या रूप (आकार) है । अहो आर्य की कौसी सौम्यता है ! अहो, क्या शान्ति है, क्या मुक्ति निर्लोभता है । अहो, भोगों के प्रति कौसी असंगता है । मुनि के चरणों में बन्दना और प्रदक्षिणा करने के पश्चात राजा न अति दूर, न अति निकट अर्यात् योग्य स्थान में खड़ा रहा और हाथ जोड़कर मुनि से पूछते लगा—राजा श्रेणिक—“हे आर्य ! तुम अभी युवा हो । फिर भी हे संयत ! तुम भोगकाल में दीक्षित हुए हो, श्रामव्य में उपस्थित हुए हो । इसका क्या कारण है, मैं सुनना चाहता हूँ ।” मुनि—“महारज ! मैं अनाथ हूँ । मेरा कोई नाथ-अभिभावक एवं संरक्षक नहीं है । मुझ पर अनुकम्पा रखने वाला कोई मुहूद मित्र मैं नहीं पा रहा हूँ ।” यह सुनकर मगधाधिप राजा श्रेणिक जोर से हँसा और मुनि से बोला—“इस प्रकार तुम देखने में ऋषि सम्पन्न सौभाग्यशाली लगते हो, फिर भी तुम्हारा कोई कैसे नाथ नहीं है ?” राजा श्रेणिक “भदन्त ! मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ । हे संयत ! मित्र और जातिजनों के साथ भोगों को भोगो । यह मनुष्य जीवन बहुत दुर्लभ है ।

अप्यणा वि अणाहो सि सोविया ! मगहृहिवा ।

अप्यणा अणाहो सन्तो कहं नाहो अविस्ससि ॥१२॥

मुनि-श्रेणिक ! तुम स्वयं अनाथ हो ! मगधाधिप ! जब तुम स्वयं अनाथ हो तो किसी के नाथ कैसे हो सकोगे ।
राजा पहले ही विस्मित हो रहा था, अब तो मुनि से अथुपूर्व (पहले कभी नहीं सुना गया 'अनाथ') यह बचन सुनकर तो और भी अधिक संभ्रान्त संशयकूल एवं विस्मित हुआ । राजा श्रेणिक—“मेरे पास अश्व हैं, हाथी हैं, नगर और अन्तःपुर हैं । मैं मनुष्य जीवन के सभी सुख भोगों को भोग रहा हूँ । मेरे पास आज्ञा शासन और ऐश्वर्य प्रभुत्व भी है । इस प्रकार प्रधान श्रेष्ठ सम्पदा जिसके द्वारा कभी काम भोग मुझे समर्पित होते हैं, मुझे प्राप्त है । इस स्थिति में भला मैं कैसे अनाथ हूँ ? भदन्त ! आप झूठ न बोलें । मुनि-पृथ्वीपति न रेख ! तुम 'अनाथ' के अर्थ और परमार्थ को नहीं जानते हो कि मानव अनाथ और सनाथ कैसे होता है—महाराज ! अत्याक्षिष्ट-अनाकूल चित्त से मुझसे सुनिये कि यथार्थ से अनाथ कैसे होता है, किस भाव से मैंने उसका प्रयोग किया है ? प्राचीन नगरों में असाधारण सुन्दर कौशाम्बी नाम की नगरी है । वहाँ मेरे पिता थे । उनके पास प्रचुर धन का संग्रह था । महाराज ! प्रथम वय में—युवावस्था में मेरी आँखों में अनुल-असाधारण वेदना उत्पन्न हुई । पार्थिव ! उससे मेरे सारे शरीर में अत्यन्त जलन होती थी । कुदू शत्रु जैसे शरीर के मर्म स्थानों में अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र घोंपदे और उससे जैसे वेदना हो, वैसे ही मेरी आँखों में भयंकर वेदना हो रही थी । जैसे इन्द्र के व्रजप्रहार से भयंकर वेदना होती है, वैसे ही मेरे त्तिक-कटिभाग में, अन्तरेच्छ हृदय में और ऊतंभाग-मस्तिष्क में अति दाहण वेदना हो रही थी । विद्या और मंत्र से चिकित्सा करने वाले, मंत्र तथा औपचार्यों के विशारद, अद्वितीय शस्त्रकुशल, आयुर्वेदाचार्य मेरी चिकित्सा के लिये उपस्थित थे । उन्होंने मेरे हतार्थ वैद्य, रोगी, औपद्य और परिचालक रूप चतुष्पाद चिकित्सा की, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके । यह मेरी अनाथता है । मेरे पिता ने मेरे लिये चिकित्सकों को उपहाररूप सर्वेसार अर्थात् सर्वोत्तम वस्तुएँ दीं, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके । यह मेरी अनाथता है । महाराज ! मेरी माता पुत्र शोक के दुःख से बहुत पीड़ित रहती थी, किन्तु वह भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी, यह मेरी अनाथता है । महाराज ! मेरे बड़े और छोटे सभी सरो भाई मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके, यह मेरी अनाथता है । महाराज ! मुझमें अनुरक्ष और अनुव्रत मेरी पत्नी अश्रुपूर्ण नयनों से मेरे उरः है । वह बाला मेरे प्रत्यक्ष में या परोक्ष में कभी स्थल (छाती) को भिंगोती रहती थी । वह बाला मेरे प्रत्यक्ष में या परोक्ष में कभी भी अन्न, पान, स्नान, गन्ध, माल्य और विलेपन का उपभोग नहीं करती थी । वह एक क्षण के लिये भी मुझसे दूर नहीं होती थी । फिर भी वह मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी । महाराज ! यह मेरी अनाथता है । तब मैंने इस प्रकार कहा—विचार किया कि प्राणी को इस अनन्त संसार में बार-बार असहा वेदना का अनुभव करना होता है ।

सइं च जइ मुच्चेज्जा वेयणा विउलाइओ ।

खन्तो दन्तो निशरम्भी पव्वए अणगारियं ॥32॥

(उत्तराध्ययन 20 अध्याय पृ० 341)

इस विपुल वेदना से यदि एक बार भी मुक्त हो जाऊँ तो मैं धार्म, दाना और निरारम्भ अनगारवृत्ति में प्रवृत्ति-दीक्षित हो जाऊँगा ।

एवं च चिन्तइत्ताणं पशुत्तोमि नराहिवा ।

परियद्वन्तोए राईए वेयणा में खयं गया ॥33॥

नराधिप ! इस प्रकार विचार करके मैं सो गया । परिवर्तमान (बीती हुई) रात के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई ।

तओ कल्ले पभायमि आपुच्छित्ताण बन्धवे ।

खन्तो दन्तो निरारम्भो पव्वइओऽणगारियं ॥34॥

तदन्तर प्रातः काल में कल्य नीरोग होते ही मैं बन्धुजनों को पूछकर क्षान्त दान्त और निरारम्भ होकर अनगार वृत्ति में प्रवृत्ति हो गया ।

ततो हं नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य ।

सध्वेसि चेव भूयाणं तसाण थावराण य ॥35॥

तब मैं अपना और दूसरों का व्रस और स्थावर सभी जीवों का नाश हो गया ।

अप्पा नई वयेरणी अप्पा मे कूडसामली ।

अप्पा कामदुहा धेणु अप्पा मैं नन्दणं वणं ॥36॥

मेरी अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूट-शालमी दृश है, कामदुहा धेनु है और नन्दन बन है ।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तमित्तं य दुष्पद्धिठ्य सुष्पद्धिठो ॥37॥

आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है और विकर्ता विनाशक है । सत् प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है ।

इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा ! तमेगचित्तो निदुओ सुणेहि ।

नियन्ठदध्मं लहियाण बी जहा सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा ॥38॥

राजन ! यह एक और भी अनाथता है । शांत एवं एकाग्र चित्त होकर उसे सुनो ! बहुत से ऐसे कायर व्यक्ति होते हैं, जो निर्ग्रन्थ धर्म को पाकर भी खिन्न हो जाते हैं स्वीकृत अनगार धर्म का सोत्साह पालन नहीं कर पाते हैं ।

जो पव्वइत्ताण महव्याइं सम्म नो फासर्थई पमाया ।

अनिग्गप्पा य रसेसु गिद्धे न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से ॥39॥

जो महाव्रतों को स्वीकार कर प्रमाद के कारण उनका सम्यक् पालन नहीं करता है, आत्मा का निग्रह नहीं करता है रसों में आसक्त है, वह मूल से राग-द्वेष रूप बन्धनों का उच्छेद नहीं कर सकता है ।

आउत्तया जस्स न अतिथ काइ इरियाए भासाए तहेसणाए ।

आयाण-निक्खेव-दुगुण्ठणाए न वीरजायं अणुजाइ मग्गं ॥40॥

जिसकी ईर्या, भाषा, एपणा और आदान-निक्षेप में और उच्चार-प्रस्त्रवण के परिणाम में आयुक्ता सजगता नहीं है, वह उस मार्ग का अनुगमन नहीं कर सकता, जो वीरयात है अर्थात् जिस पर वीर पुरुष चले हैं।

चिरं पि से मुण्डर्लई भविता अथिरव्वए तब नियमेहि भट्ठे ।
चिरं पि अध्याण किलेसइत्ता न पारए होइ हु संपराए ॥41॥

जो अहिंसादि व्रतों में अस्थिर है, तप और नियमों से भ्रष्ट है—वह चिरकाल तक मुण्डरुचि (और कुछ साधना न कर केवल सिर मुँड़ा देने वाला मिशु) रहकर और आत्मा को कष्ट देकर भी वह संसार से पार नहीं हो सकता।

पोर्ले व मुद्ठी जह से असारे अयन्तिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे अमहग्धए होय य जाणएसु ॥42॥

जो पोली (खाली) मुट्ठी की तरह निस्सार है, खोटे सिक्के की तरह अयन्त्रित अप्रमाणित है, वैद्यूय की तरह चमकने वाली तुच्छ राढामणि काचमणि है, वह जानने वाले परीक्षकों की इटि में मूल्यहीन है।

कुसीललिंगं इह धारइत्ता इसिज्जयं जीविय वृहइत्ता ।
असंजए संजयलिप्पमाणे विणिधायमागच्छइ से चिरंपि ॥43॥

जो कुशील आचार हीनों का तेष, और ऋषि ध्वज (रजोहरणादि मुनिचित्र) धारण कर जीविका चलाता है, असंयत होते हुए भी अपने आपको संयत कहता है, वह चिरकाल तक विनिधात विनाश को प्राप्त होता है।

विसं तु पीयं जह कालकूडं हणाइ सत्थं जह कुगहीयं ।
एसे व धर्मो विसओववन्नो हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥44॥

पिया हुआ कालकूट विष उल्टा पकड़ा हुआ शस्त्र, अनियन्त्रित वेताल जैसे विनाशकारी होता है। वैसे ही विषय विकारों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे निमित्त कोऽहलसंपगादे ।
कुहेइविजजासवदार जीवी त गच्छई सरण तस्मि काले ॥45॥

जो लक्षण और स्वप्न-विद्या का प्रयोग करता है, निमित्त शास्त्र और कौतुक कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्या आशर्य को उत्पन्न करने वाली कुहेट विद्याओं से जादूगरी के खेलों से जीविका चलाता है, वह कर्मफल भोग के समय किसी की शरण नहीं पा सकता।

सोच्चाण मेहावि सुभासियं इसं अणुसासण नाणगुणोवदेयं ।
मग्ग कुसीलाण जहाय सव्वं महानियठाण वए पहेण ॥51॥

मेधावी साधक इस सुभासित को एवं ज्ञान गुण से युक्त अनुशासन (शिक्षा) को सुनकर कुशील व्यक्तियों के सब मार्गों को छोड़कर महान् नियन्त्रों के पथ पर चले।

चरित्तमायारगुणन्निए तभो अनुत्तरं संजम पालियाणं ।

निरासवे संखवियाण कम्मं उवेइ ठाणं विउत्तमं धुवं ॥52॥

चारिवाचार और ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न नियन्त्र निराश्रव होता है। अनुत्तर शुद्ध संयम का पालन कर वह निराश्रव (राग-द्वेषादि बन्ध हेतुओं से मुक्त) साधक कर्मों का क्षय कर विपुल उत्तम एवं शाश्वत मोक्ष को प्राप्त करता है।

एवगगदन्ते वि महातवोधणे महामुणी महापइन्ने महायसे ।

महानियण्ठिज्जमिणं महासुयं से काहए महया वित्थरेणं ॥53॥

इस प्रकार उग्र-दान्त, महान् तपोधन, महाप्रतिज्ञ, महान् यशस्वी उस महामुनि ने इस महा नियन्त्रीय महाश्रुत को महान् विस्तार से कहा।

तुद्धो य सेणिओ राया इणमुदाहु क्यञ्जली ।

अणाहत्तं जहाभ्यं सुट्ठु मे उवदंसियं ॥54॥

राजा श्रेणिक संतुष्ट हुआ और हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला भगवन् अनाथ का यथार्थ स्वरूप आपने मुझे ठीक तरह समझाया है।

तुज्जं सुलद्धं खु मणुस्सजम्म लाभा सुलद्वा य तुमे महेसी ।

तुम्भे सणाहा य सबन्धवा य जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं ॥55॥

राजा श्रेक्षिक—हे महर्षि ! तुम्हारा मनुष्य जन्म सफल है, तुम्हारी उपलब्धियां सफल हैं, तुम सच्चे सनाथ और सबान्धव हो क्योंकि तुम जिनेश्वर के मार्ग में स्थित हो।

तं सि नाहो अणाहाणं सध्वभूयाण संजया ।

खामेमि ते महामाण ! इच्छामि अणुसासिउं ॥56॥

हे संयत ! तुम अनाथों के नाथ हो, तुम सब जीवों के नाथ हो। हे महामाण ! मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ। मैं तुमसे अनुशासित होने की इच्छा रखता हूँ।

“मैंने तुमसे प्रश्न कर जो ध्यान में विधन किया और भोगों के लिये निमन्वण दिया, उन सबके लिये मुझे क्षमा करो, इस प्रकार राजसिंह श्रेणिक राजा अनगार सिंह मुनि की परम भक्ति में स्तुति कर अन्तःपुर (रानियों) तथा अन्य परिजनों के साथ धर्म में अनुरक्त हो गया। राजा के रोमकूल आनन्द से उच्छवन्दना करके लौट गया और वह गुणों से समृद्ध, तीन गुणियों से गुप्त, तीन दण्डों से विरत, मोहमुक्त मुनि पर्की की भाँति विप्रमुक्त अप्रतिबद्ध होकर भूतल पर विहार करने लगे।

(उत्तराध्यायन)

बौद्ध धर्म में वर्णित अशरण भावना

बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि वनानि च ।

आरामरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता ॥10॥ (बुद्धवग्गो पृ० 61)

नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं ।

नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥11॥

मनुष्य भय के मारे पर्वत, वन, आराम (उद्यान) वृक्ष, चैत्य (चौरा) आदि
को देवता मान उनकी शरण में जाते हैं; किन्तु ये शरण मंगलदायक नहीं, ये शरण
उत्तम नहीं; क्योंकि इन शरणों में जाकर सब दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता।

यो च बुद्धञ्च धर्मञ्च संघञ्च सरणं गतो ।
चत्तरि अरियसच्चानि सम्प्रपञ्चाय परस्ति ॥12॥
दुखं दुखसमुपादं दुखस्स च अतिक्षमं ।
अरियञ्चबहुज्ञिकं मग्नं दुखूपसमगमिनं ॥13॥
एवं खो सरणं क्षेमं एतं सरणमुत्समं ।
एतं सरणमागम्म सब्दबुद्धिं पमुच्चति ॥14॥

जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण गया है, जिसने चार आर्यसत्यों दुःख-दुःख
की उत्पत्ति दुःख से मुक्ति और मुक्तिगमी आर्य अष्टाङ्गक मार्ग को सम्यक् प्रजा
से देख लिया है, यही मंगलदायक शरण है। यही उत्तम शरण है। इसी शरण को
प्राप्त कर (व्यक्ति) सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है।

दुल्लभो परिसाजञ्चो न सो सबवत्थ जायति ।
यथं सो जायति धीरो तं कुलं सुखमेधति ॥15॥

उत्तम पुरुष दुर्लभ है, वह सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता, वह धीर (पुरुष) जहाँ
उत्पन्न होता है, उस कुल में सुख की वृद्धि होती है।

सुखो बुद्धानं उप्यादो सुखा सद्गमदेसना ।
सुखा संघस्स सामग्री समगानं तपो सुदो ॥16॥

सुखदायक है बुद्धों को जन्म, सुखदायक है सद्गम का उपदेश, संघ में एकता
सुखदायक है और सुखदायक है एकतायुक्त होकर तप करना।

पूजारहे पूजयतो बुद्धे यदि च सावके ।
पपञ्चसमतिवक्ते तिण्णसोकपरिद्वे ॥17॥

पूजनीय बुद्धों, अथवा (उनके) श्रावकों की जो संसार को अतिक्रमण कर
गए हैं, शोक भय को पार कर गए हैं—पूजा के (या) उन ऐसे मुक्त और निर्भय
(पुरुषों) की पूजा के, पुण्य का परिणाम “इतना है”—यह किसी से भी नहीं कहा जा
सकता है। (धर्मपद)

पाश्वं पर उपसर्गं भये, कोई न रखना हार ।
जो अपना आथय लहे, ताके न मारन हार ॥
(कनकनन्दी महाराज कृत)

अध्याय

4

संसार अनुप्रेक्षा

(1) संसार, (2) असंसार, (3) नो संसार और (4) त्रितयव्यपाय अर्थात्
तीनों से रहित ये संसार की चार अवस्थायें हैं—

(1) संसार—अनेक भेदरूप योनियों में जन्म, मरण करते हुए चारों गतियों
में परिघ्रमण करना संसार कहलाता है।

(2) असंसार—मोक्षरूप परमामृत सुख की प्राप्ति होना असंसार है।

(3) नो संसार—सयोग केवली चारों गतियों में परिघ्रमण नहीं करते और
उनके संसार का अन्त भी नहीं हुआ है इसीलिये उन्हें ईत्संसार यानी नो संसार
कहते हैं।

(4) त्रितयव्यपाय—तत्त्रितयव्यपाय अर्थात् इन तीनों से रहित अयोग
केवली है क्योंकि उनके संसार के परिघ्रमण का अभाव है। सयोग केवलियों के समान
उनके प्रदेशों का परिस्पन्दन नहीं होता और उनके संसार का अन्त नहीं हुआ है। शरीर
के परिस्पन्दन का अभाव होने पर भी संसारी जीवों का सदा प्रदेश परिस्पन्दन हुआ
करता है। इसीलिये उनके सदा संसार रहता है। सिद्ध और अयोग केवलियों के
प्रदेश परिस्पन्दन नहीं होता क्योंकि उनके प्रदेश परिस्पन्दन होने के लिये उनके योग्य
कर्मरूप सामग्री का अभाव है (शेष जीवों के मन, वचन, काय इन तीनों योगों के
द्वारा प्रदेश परिस्पन्दन होता है)। वह संसार अभव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि तथा
अनिधन है (आदि-अन्त दोनों से रहित है) भव्य सामान्य की अपेक्षा से अनादि तो है
परन्तु नष्ट हो सकता है। भव्य विशेष की अपेक्षा से क्वचित् सादि है परन्तु सनिधन
अर्थात् सांत है। असंसार अर्थात् मोक्ष सादि है परन्तु अनिधन अर्थात् अन्त रहित
है। तत्त्रितयव्यपाय अर्थात् चौदहवें गुणस्थान का समय अन्तर्मुहूर्त है। नो संसार का
समय जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड़ पूर्व है। सादि और
सान्त संसार का समय जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अर्द्धपुद्गलपरावर्तन है।

(1) द्रव्य (2) क्षेत्र (3) काल (4) भव और (5) भाव के भेद से संसार
पांच प्रकार का है—

(1) द्रव्य संसार-कर्म—नो कर्म द्रव्य संसार के भेद से द्रव्य संसार के दो भेद हैं—

(अ) द्रव्य कर्म संसार—द्रव्य निमित्तक संसार या कर्मद्रव्य संसार, ज्ञानावरणादि कर्मों के विषयभूत है।

(ब) नो कर्म द्रव्य संसार—नो कर्म द्रव्य संसार औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर तथा आहारक शरीर, इन्द्रिय, इवासोच्छवास, भाषा और मन इन छः पर्याप्तियों के विषयभूत हैं।

(2) क्षेत्र संसार—जिसमें क्षेत्र ही कारण हो उसको क्षेत्र संसार कहते हैं। वह—(1) स्वक्षेत्र और (2) परक्षेत्र के भेद से दो प्रकार का है—

स्वक्षेत्र संसार—इस आत्मा के प्रदेश लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर हैं, परन्तु कर्मों के उदय के कारण उनमें संकोच-विस्तार होने की शक्ति है। इसीलिये ही यह आत्मा कभी आकाश के थोड़े से प्रदेशों से ही अवगाहन करता है और कभी अधिक प्रदेशों में इसी को स्वक्षेत्र संसार कहते हैं।

परक्षेत्र संसार—सम्मुच्छंत, गर्भ, उपपाद इन तीनों जन्म तथा नो यौनियों के भेदों का सहारा लेकर जन्म-परण करना परक्षेत्र संसार है।

(3) काल संसार—काल संसार के दो भेद हैं—(1) परमार्थ काल संसार और (2) व्यवहार काल संसार। यह काल संसार के दो भेद हैं।

परमार्थकाल संसार—लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं। वे परस्पर कभी बंध रूप नहीं होते अर्थात् मिलते नहीं। एक-एक लोकाकाश के प्रदेश पर एक-एक कालाणु है। इस तरह वे कालाणु समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। उनमें न तो मुख्य प्रदेश कल्पना है और न उपचार से प्रदेश कल्पना है, इसीलिये वे कालाणु अवश्य रहित हैं। धर्म, अधर्म, जीव, आकाश और दयणुक आदि स्फँट्य रूप पुद्गलों में मुख्य प्रदेश कल्पना है। कालाणु में किसी तरह की प्रदेश कल्पना नहीं है, उनके नाश होने का कोई कारण नहीं है इसलिये वे नित्य हैं और अनेक तरह से परिणमनशील ऐसे छहों द्रव्यों की पर्यायों के परिवर्तन का कारण होने से अनित्य हैं। उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का सम्बन्ध नहीं है, इसलिये अमूर्त है और जीवों के प्रदेशों के समान वे आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जा-आ नहीं सकते इसलिये निष्क्रिय व क्रियारहित हैं। ऐसे उन कालाणुओं को 'परमार्थ काल' कहते हैं।

व्यवहार काल संसार—परमार्थ काल की वर्तना के द्वारा जिसे 'काल' संज्ञा प्राप्त हुई है। परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व जिसका लक्षण है अर्थात् इन तीनों से जो जाना जाता है उसे व्यवहार काल कहते हैं। यह व्यवहार काल किसी अन्य से (सूर्योदयादिक से) परिच्छिन्न हैं और अपरिच्छिन्न द्रव्यों के परिच्छेद का कारण है।

व्यवहार काल—व्यवहार काल भूत, वर्तमान और भविष्यत् के भेद से तीन प्रकार का है।

जिस प्रकार अनेक वृक्षों की पंक्तियों के अनुसार कोई देवदत्त नाम का पुरुष चल रहा हो तो उसके लिये एक-एक वृक्ष के प्रति यह भाव उत्पन्न होता है कि इस वृक्ष तक वह पहुँच गया, इस वृक्ष के समीप जा रहा है और इस वृक्ष पर जायेगा। उसी प्रकार अनुक्रम से वर्तमान पर्यायों का अनुभव करते हुए उन कालाणुओं के अनुसार रहने वाले द्रव्यों के भूत, वर्तमान, भविष्यत् का व्यवहार गौण रीति से होता है और व्यवहार काल में इन तीनों का व्यवहार मुख्य रीति से होता है। यहाँ पर बहुत कहने से क्या लाभ है केवल इतना समझ लेना चाहिये कि, उस कारण भूत परमार्थ काल में छहों द्रव्य कार्य रूप परिणत होते रहते हैं। उन द्रव्यों का परिच्छेद ज्ञान करने वाले समय, आवलिका आदि है। द्रव्य का एक पर्याय एक समय रूप है तथा दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त पर्यायों का समूह दो, तीन, चार, संख्यात असंख्यात और अनन्त समय रूप है। जिस प्रकार दीपक स्वप्रकाशक होकर परप्रकाशक है उसी प्रकार काल भी स्वप्रवर्तक तथा परप्रवर्तक है। सबसे जघन्यगति रूप परिणत हुआ पुद्गल का परमाणु जितनी देर में अपने रहने योग्य आकाश के प्रदेश का उल्लंघन करता है अर्थात् समीपवर्ती प्रदेश तक पहुँचता है उतने परम निश्च और विभाग रहित काल को समय कहते हैं। यह काल संसार है।

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।

साहारणजीवाणां साहारणलक्खणं भणिणं ॥

(गो० जी०)

जात्येकक मरइ जाओ तत्थ दु मरणं हवे अणांताणं ।

वषकमइ जात्थ एकको वषकमणं तत्थ णांताणं ॥

(गोममटसार जीवकाण्ड)

भव निमित्तक संसार बत्तीस प्रकार का है—(1) पृथ्वीकायिक, (2) जलकायिक, (3) वायुकायिक और (4) अग्निकायिक ये चारों ही प्रकार के जीव सूक्ष्म पर्याप्तिक, सूक्ष्म अपर्याप्तिक, बादर पर्याप्तिक और अपर्याप्तिक के भेद चार प्रकार के होते हैं। सब सोलह भेद होते हैं।

बनस्पतिकायिक के दो भेद—(1) पर्याप्तिक, (2) अपर्याप्तिक भेद से प्रयेक शरीर के दो भेद हैं।

साधारण शरीर—आहार, शरीर, इन्द्रिय, उच्छवास, निश्वास और पर्याप्ति के निमित्त कारण आहार वर्गणा के पुद्गलपिण्ड ग्रहण करने वाले 'साधारण शरीर' कहलाते हैं। उनमें से यदि एक का मरण हो तो अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती है। उन साधारण जीवों का चिन्ह, गृह, शिरा आदि है। लिखा भी है—“साधारण इत्यादि”।

इन साधारण जीवों का साधारण ही आहार होता है और साधारण ही श्वासोच्छवास ग्रहण होता है अर्थात् समान ही इन साधारण जीवों का आहार, श्वासोच्छवास ग्रहण होता है। इस तरह साधारण जीवों का लक्षण परमागम में साधारण ही बतलाया है।

भावार्थ—साथ ही उत्पन्न होने वाले जिन अनन्तानन्त साधारण जीवों की आहारादि पर्याप्ति और उनके कार्य सदृश तथा समान काल में होते हैं उनको 'साधारण जीव' कहते हैं।

साधारण जीवों में जहाँ पर एक जीव मरण करता है, वहाँ पर अनन्त जीवों का मरण होता है, और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवों का उत्पाद होता है।

भावार्थ—साधारण जीवों में उत्पत्ति और मरण की अपेक्षा भी सादृश्य है। प्रथम समय में उत्पन्न होने वाले साधारण जीवों की तरह द्वितीयादि समयों में भी उत्पन्न होने वाले साधारण जीवों का जन्म व मरण साथ ही होता है। यहाँ इतना विशेष और समझना कि एक वादर निगोद शरीर में या सूक्ष्म निगोद शरीर में एक साथ ही उत्पन्न होने वाले अनन्तानन्त साधारण जीव या तो पर्याप्तिक ही होते हैं या अपर्याप्तिक ही होते हैं किन्तु मिथ्रहृष्प (उमयात्मक) नहीं होते क्योंकि उनके समान ही कर्मोदय का नियम है।

सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक की पहचान :—

गूढ़सिरसंधिपञ्चं, समभज्जमहीरुहं च छिण्णरुहं ।

साहारणं शरीरं तविवरीयं च पत्तेयं ॥187॥ (गो० जी०)

जिसकी शिरा-वहिः स्नायु, सन्धि (रेखावन्ध) और पर्व (गाँठ) अप्रकट हो और जिसका भज्ज करने पर समान भज्ज हो, दोनों भज्जों में परस्पर ही रुक (अन्तर्गत) सूक्त (तनु) न लगा रहे तथा छेदन-भेदन करने पर भी जिसकी पुनः वृद्धि हो जाये उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। जो विपरीत है यानी इन चिन्हों से रहित है वे सब अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कही गयी हैं।

भावार्थ—यद्यपि वनस्पति के दो भेद बताये हैं—उनमें प्रत्येक से साधारण भेद भिन्न ही है, परन्तु यहाँ पर साधारण जीवों से आश्रित होने के कारण उपचार से ताल, नालिकेर, तितिणीक आदि प्रत्येक वनस्पति के भेदों को भी साधारण शब्द से कहा है।

मूले कन्दे छल्ली, पवाल सालदलकुसुमफलबीजे ।

समभज्जे सदि यन्ता, असमे सदि होति पत्तेया ॥188॥

जिन वनस्पतियों के मूल, कन्द, त्वचा, प्रवाल, नबीन कोपल अथवा अड़कुर, क्षुद्रशाखा, टहनी, पद्म, फूल, फल तथा जीजों को तोड़ने से समान भज्ज हो, बिना ही रुके भग्न हो जाय उसको सुप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं, और जिसका भज्ज समान न हो उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

कन्दस्स व मूलस्स व,
सालाखंदस्स वावि बहुलतरा ।

छल्ली साणंतजिया,
पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥189॥

जिस वनस्पतियों के कन्द, मूल, क्षुद्रशाखा या स्कंध की छाल मोटी हो उसको अनन्तजीव सुप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

वनस्पति जीवों के अवान्तर भेदों को प्रकारान्तर से बताते हैं।

मूलगगपोरबीजा कंदा तह खंदबीज बीजहहा ।

सम्मुच्छिमय भणिया पत्तेयाऽणंत काया य ॥186॥

जिन वनस्पतियों का बीज, मूल, अग्र, पर्व, कन्द व स्कंध है अथवा जो बीज से ही उत्पन्न होता है, तथा सम्मुच्छन है वे सभी वनस्पतियों सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती हैं।

भावार्थ—वनस्पति अनेक प्रकार की होती हैं कोई तो मूल से उत्पन्न होती है। जैसे—अदरख हल्दी आदि। कोई अग्र से उत्पन्न होती है जैसे—गुलाब, आर्यका, उदीचि आदि। कोई पर्व (पञ्जीली) से उत्पन्न होती है जैसे—ईख, बैत आदि। कोई कन्द से उत्पन्न होती है जैसे—पिण्डालु, सूरण। कोई स्कंध से उत्पन्न होती है जैसे सल्लकी, कटकी, पलाश, (दाक) आदि कोई कोई अपने-अपने बीज से उत्पन्न होते हैं, जैसे गेहूँ, चना आदि। कोई सम्मुच्छन, मिट्टी जल आदि के सम्बन्ध से ही उत्पन्न हो जाती है, जैसे—घास आदि। ये सब ही वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक इस तरह दोनों प्रकार की हुआ करती हैं।

यह बात भी ध्यान में रहनी चाहिए कि यहाँ पर बताये गये वनस्पति के भेदों में एक भेद सम्मुच्छन भी बताया है वह वनस्पति के अनेक कारणजन्य प्रकारों में से एक प्रकार है, जिसका आशय इतना ही है कि उसकी उत्पत्ति का कोई बीज निश्चित नहीं है, जैसा कि अन्य वनस्पतियों के मूल आदि बीज निश्चित है। जन्म के तीन (सम्मुच्छन, गर्भ, उपचार) प्रकारों में से एक सम्मुच्छन भेद भी है। वह तो एकेन्द्रिय जीवों से लेकर संसारी जीवों में चतुरिन्द्रिय तक सभी जीवों का तथा किन्हीं-किन्हीं पंचेन्द्रिय जीवों का भी हुआ करता है। दोनों ही सम्मुच्छनों

में सामान्य विशेष का अन्तर है। सम्मूच्छंन जन्म सामान्य है और यह भेद विशेष है।

बीजे जोणीभूदे जोबो चंकमदि सो व अणो वा।
जे वि य मूलादीया, ते पत्तेया पठमदाए ॥190॥

जिस योनिभूत बीज में वहीं जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो वह और मूल आदिक बनस्पतियाँ प्रथम अवस्था में अप्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि, प्रत्येक बनस्पति के दो भेद होते हैं। सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। उन्हीं के विषय में यहाँ पर दो विशेष बातें बतारहे हैं। एक तो यह है कि जब वे मूल आदि के बीज पर्यन्त सभी बनस्पतियाँ बीज रूप में होती हैं, उनके पुदगल स्कन्ध इस योग्य रहते हैं कि उनमें रहने वाले जीव के निकल जाने पर ही बाह्य कारणों के भिलते ही पुनः उसमें जीव आकर उत्पन्न हो सकता है अर्थात् जब तक उनमें से अङ्गकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट नहीं हुई है तब तक उनमें या तो वह जीव आकर उत्पन्न हो जाता है जो कि पहले उसमें था या कोई दूसरा जीव भी कहीं अन्यत्र से मरण करके आकर उत्पन्न हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि वे मूल कन्द आदि सब ही बनस्पतियों जिनको पहले सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहा है वे अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मूर्हूर्त पर्यन्त अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहता है।

इस प्रकार प्रत्येक व साधारण के भेद से दो प्रकार की बनस्पतियों में से प्रत्येक का वर्णन करके अब क्रम से साधारण बनस्पति का वर्णन करते हैं।

अर्थात् जिनका सिरा, संधि, पर्व, अप्रगट हो और जिसका भंग करने पर समान भंज्ज हो। दोनों भंज्जों में परस्पर तन्तु न लगा रहे तथा छेदन करने पर भी जिसकी पुनः वृद्धि हो जावे उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक और इससे विपरीत को अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

श्रीमद् महापण्डित टोडरमल जी कृत गोम्मट सार भाषा में इस संबंध में निम्नांकित वर्णन किया है—

“तहाँ प्रत्येक बनस्पति के शरीर, बादर, निगोद, जीवनिकरि आश्रित संयुक्त होय, ते सप्रतिष्ठित प्रत्येक जानने, जे बादर निगोद के आश्रय रहत होई ते अप्रतिष्ठिति प्रत्येक जानने।”

आगे पं० टोडरमल जी की भाषा टीका के आधार से इसकी विशद व्याख्या करते हैं—(1) जिनकी मूल जो जड़ सोई बीज होई, ते अदरख, हल्दी आदि मूल बीज जानने, जिसको पूर्व स्पष्ट किया है। वे मूल बीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्द

बीज आदि बनस्पति ऐसे ये कहे, सर्व ही प्रत्येक बनस्पति है ते अनन्त जे निगोद जीव तिनके काय कहिये शरीर जिन विषै पाइये ऐसे अनन्त काय कहिये प्रतिष्ठित प्रत्येक है। बहुरि चकार इस गाथा में आया है तासे अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। ऐसे प्रतिष्ठित कहिए साधारण शरीर निकरि आश्रित हैं प्रत्येक शरीर जिनका प्रत्येक प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर है।

बहुरि तिनिकरि आश्रित नाहीं है प्रत्येक शरीर जिनका ये अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर है। ऐसे यह मूल बीज सम्मूच्छित पर्यन्त सर्व दोय-दोय अवस्था लिये जानना। ये ऊपर कहे सर्व ही प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर जीव सम्मूच्छित जन्म वाले हैं। “बहुरि प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर की सर्वोत्कृष्ट अवशाहना धनाड़्गुल के असंख्यात भाग मात्र ही है। ताते पूर्वोक्त आदा (अदरख) को आदि देकर एक-एक स्कन्ध विषै असंख्यात प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर पाइये है। कैसे? धनाड़्गुल को दोय बार पल्य का असंख्यातवाँ भाग, अर नव बार असंख्यात का भाग दिये जो प्रमाण हुई जितने धेत्र विषै जो एक अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर होई, तो संख्यात धनाड़्गुल प्रमाण आदा, मूलादिक स्कन्ध विषै केतेक पाइये? यह कथन बहुत सूक्ष्म है, समझ में आयेगा नहीं, ताते बढ़ाकर नहीं लिखा। बहुरि एक स्कन्ध विषै अप्रतिष्ठित बनस्पति जीवनी के शरीर यथा संभव असंख्यात भी होय। वा संख्यात भी होय बहुरि जेते प्रत्येक शरीर रहे जितने ही तहाँ प्रत्येक बनस्पति जीव जानने, जाते तहाँ एक-एक शरीर प्रति एक-एक जीव होने का नियम है।

ते च साधारण शरीरश्चतुर्धा सूक्ष्मवादरपर्याप्तिकापर्याप्तिक विकल्पात्। द्वित्रिचतुर्निद्रियः प्रत्येकं द्वेष्या, पर्याप्तिकापर्याप्तिकविकल्पात्। पंचेन्द्रियश्चतुर्धा संज्ञसंज्ञिपर्याप्तिकापर्याप्तिकापेक्षयेति ।

वे साधारण जीव सूक्ष्म पर्याप्तिक, सूक्ष्म अपर्याप्तिक, बादर पर्याप्तिक और बादर अपर्याप्तिक के भेद से चार प्रकार के हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौन्द्रिय जीव भी पर्याप्तिक-अपर्याप्तिक के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी पर्याप्तिक, संज्ञी अपर्याप्तिक, असंज्ञी पर्याप्तिक और असंज्ञी अपर्याप्तिक के भेद से चार प्रकार के हैं।

भावनिमित्त संसारो द्वेष्या स्वभाव परभावाश्रयात्। स्वभावोमिद्यादर्शन कषायादिः परभावो ज्ञानावरणादि कर्मसादिः। एवमेतस्मन्ननेकयोनिकुलकोटि-बहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रन्नविषै जीवः कर्मयन्त्र प्रेरितः पिता भूत्वा पुवः पौत्रश्च भवति। माता भूत्वा भगिनि भार्या दुहिता च भवति। कि बहुना स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादिसंसारस्वभाव चिन्तवनं संसारानुप्रेक्षा। एवमस्य भावयतः संसार दुःखमयादुदिविग्नस्य ततो निर्वेदो भवति निर्विणश्च संसारप्रहाणाय प्रतियत्ते।

भावनिमित्तक संसार के दो भेद हैं। एक स्वभाव संसार, दूसरा परभाव संसार।

स्वभाव संसार—मिद्यादर्शन, कषाय आदि स्वभाव संसार है।

परभाव संसार—ज्ञानावरणादि कर्मों के रसादिक परभाव संसार है।

इस प्रकार अनेक योनियों और लाखों कुल कोड़ियों से भरे हुए इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ। यह जीव कर्म रूपी यन्त्रों से प्रेरित होकर पिता होकर भाई हो जाता है। पुत्र हो जाता है तथा पौत्र हो जाता है। माता होकर बहिन स्त्री और पुत्री हो जाती है बहुत कहने से क्या लाभ? वह स्वर्यं मरकर अपना पुत्र हो जाता है। इस प्रकार के स्वभाव का चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।

—(चारिक्सार)

सांसारिक सुख

कभी कोई मनुष्य एक भयंकर वन में जा पहुँचा। वहाँ वह एक विकराल गज (हाथी) को देखकर ढर के मारे भागा। भागते-भागते अचानक वह एक गहरे कुएँ में जा गिरा। गिरते हुए उसके हाथों में एक वृक्ष की जड़ें आ गईं। उन्हें पकड़कर वह लटक गया। वृक्ष पर एक शहद का छत्ता था। सो इस मनुष्य के पीछे भागते आते हुए गज (हाथी) के धब्बे से वृक्ष हिल गया। वृक्ष के हिल जाने से मधुमक्खियाँ उड़ गईं और छत्ते से शहद की बूँदें टप-टप टपककर उस मनुष्य के मुँह में गिरने लगीं। इधर कुएँ में चार भयानक सर्प थे। सो वे उसे डसने के लिए मुँह बाये (फाड़े) हुए फुकारने लगे और जिन जड़ों को यह अभागा मनुष्य पकड़े हुए था, उन्हें एक काला और एक गोरा ऐसे दो चूहें काट रहे थे। इस भयानक कष्ट में वह फँसा था। फिर भी उससे छुटकारा पाने का कुछ यत्न न कर वह मुर्ख स्वाद की लोलुपता से उन शहद की बूँदों के लोभ को नहीं रोक सका और उलटा अधिक-अधिक उनकी इच्छा करने लगा। इसी समय जाता हुआ कोई विद्याधर उस ओर आ निकला। उस मनुष्य की ऐसी कष्टमय दशा देखकर उसे बड़ी दया आई। विद्याधर ने उससे कहा—भाई, आओ और इस वायुयान में बैठो। मैं तुम्हें निकाल देता हूँ। इसके उत्तर में उस अभागे ने कहा—हाँ, जरा आप ठहरें, यह शहद की बूँदें गिर रही हैं। मैं इसे लेकर ही निकलता हूँ। वह बूँद गिर गयी। विद्याधर ने उससे किर आने को कहा। तब भी उसने यही उत्तर दिया कि हाँ, यह बूँद आई जाती है, मैं अभी आया। विद्याधर ने बहुत समझाया, पर वह “हाँ इस गिरती हुई बूँद को लेकर आता हूँ।” इसी आशा में फँसा रहा। लाचार होकर बेचारे विद्याधर को लौट जाना पड़ा। सच है विषयों द्वारा ठगे गये जीवों को अपने हित की कभी प्रीति नहीं होती।

जैसे, उस मनुष्य को उपकारी विद्याधर ने कुएँ से निकालना चाहा, पर वह शहद की लोलुपता से अपने हित को नहीं जान सका। ठीक इसी प्रकार विषयों में फँसा हुआ जीव संसार रूपी कुएँ में कालरूपी गज (हाथी) द्वारा अनेक प्रकार के कष्ट पा रहा है, उसकी आयुररूपी डाली को दिन-रात रूपी दो श्वेत और काले चूहे काट रहे हैं। कुएँ के चार सर्प रूपी चार गतियाँ इसे डसने के लिए मुँह फाड़े खड़े

हैं और गुरु इसे हित का उपदेश दे रहे हैं। तब भी यह अपना हित न कर शहद की बूँद रूपी विषयों में क्षुब्ध हो रहा है और उनकी और अधिक से अधिक इच्छा करता जाता है। सच तो यह है कि अभी इसे दुर्गतियों का बहुत कष्ट भोगना है इसीलिये सच्चे मार्ग की ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती।

इस प्रकार यह संसाररूपी भयानक समुद्र अत्यन्त दुःखों का देने वाला है और विषय भोग विष मिले भोजन या दुर्जनों के समान कष्ट देने वाला है। इस प्रकार संसार की स्थिति देखकर बुद्धिमानों को जिनेन्द्र भगवान के उपदेश किये हुए पवित्र धर्म को, जो कि अविनाशी, अनन्त सुख को देने वाला है, स्थिर भावों के द्वारा हृदय में धारण करना उचित है।

संसार का स्वरूप—

मिच्छत्तेजाष्ठणो मग्गं जिनवेसिदं अपेक्खंतो ।

भमिहदि भीमकुडिले जीवो संसारकंतारे ॥705॥ मूला II

मिथ्यात्व से सहित हुआ जीव जिनेन्द्र कथित मोक्षमार्ग को न देखता हुआ भयंकर और कुटिल ऐसे संसार वन में भ्रमण करता है।

मिथ्यात्वेनाछन्नोऽश्रद्धानतमसा समंतादावृतः मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्वाणि तं जिनदर्शितं जिनेनप्रतिपादितमपश्यन् अज्ञानादश्रमत्यर्थं जीवः संसारकान्तरे संसारात्व्या, भीमे भयानके कुटिलेऽतीवगहने मोहवृत्यादिनिवद्ध इति ।

तत्वों के अश्रद्धान रूपी अन्धकार से सब तरफ से ढका हुआ यह जीव जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्वमय मार्ग को नहीं देखता हुआ अज्ञानवश अतीत गहन, मोहरूपी बेल आदि से निवद्ध हो संसाररूपी भयानक वन में भटकता रहता है।

चतुर्विधि (पंचविधि) संसार—

दध्वे लेते काले भावे य चदुविवहो य संसारो ।

चदुगणिगणिद्वो बहृप्यार्णहं णादव्यो ॥706॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप चतुर्विधि संसार है। यह चतुर्गति के गमन से संयुक्त है। इसे अनेक प्रकार से जानना चाहिए।

संसरण संसारः परिवर्तनं तच्चतुर्विधि द्रव्यपरिवर्तनं, क्षेत्रपरिवर्तनं, कालपरिवर्तनं, भावपरिवर्तनं, भवपरिवर्तनं चत्रैव द्रष्टव्यमन्यत्र पंचविधस्योपदेशादिति ।

संसरण करना, परिवर्तन करना संसार है। उसके 4 भेद हैं—द्रव्य, परिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन और भावपरिवर्तन। भवपरिवर्तन को भी इन्हीं में समझना चाहिये क्योंकि अन्यत्र ग्रन्थों में पाँच प्रकार के संसार का उपदेश किया गया है।

(1) द्रव्य परिवर्तन—

द्रव्य परिवर्तन दो प्रकार का है—नोकर्म परिवर्तन और कर्म परिवर्तन।

(क) नो कर्म परिवर्तन—एक जीव एक समय में तीन शरीर—आदारिक, वैक्षिकीय, आहारक और छः पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल वर्गणाएँ ग्रहण की हैं, उन्हें तीव्र, मंद और मध्यम जैसे भावों से ग्रहण किया है तथा वे वर्गणाएँ स्तिर्ग्रह, रक्षा, वर्णगन्ध आदि से जिस प्रकार की है, द्वितीय आदि समयों में निर्जीर्ण हो गयी। तबनन्तर वही जीव शृंहीत पुद्गलवर्गणाओं को अनन्तवार ग्रहण करके छोड़े पुनः मध्य में ग्रहण किये गये ऐसे शृंहीत परमाणुओं को अनन्तवार ग्रहण करके छोड़े। पुनः वही जीव उस पहिले समय के ग्रहण किये गये प्रकार से उतनी ही पुद्गल वर्गणाओं की उसी प्रकार के भावों से और वैसे ही स्तिर्ग्रह, रक्षा, वर्ण गन्ध वाले परमाणुओं को जब ग्रहण करता है तब उतने काल प्रमाण वह उसका नो कर्म परिवर्तन कहता है।

(ख) कर्म द्रव्य परिवर्तन—एक जीव ने एक समय में आठ प्रकार के कर्मभाव से जो पुद्गल ग्रहण किये हैं, एक समय अधिक एक आवली प्रमाण काल को बीताकर द्वितीय आदि समयों में वे कर्मवर्गणाये निर्जीर्ण हो गयीं। पुनः शृंहीत, अशृंहीत और मिश्र पुद्गल वर्गणाओं को अनन्तवार ग्रहण करके छोड़ देने के बाद वही जीव उन्हीं पूर्व के कर्म स्तक्षणों को उसी विधि से कर्मभाव से परिणमन करता है। प्रारम्भ से लेकर तब तक के काल प्रमाण को कर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

(2) भ्रेत्र परिवर्तन—

सर्वं जघन्य प्रदेश रूप शरीरधारी सूक्ष्म निगोद जीव, जो कि अपर्याप्तक है, लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य प्रदेश करके उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार तीसरी बार उत्पन्न हुआ तथैव चौथी बार उत्पन्न हुआ। इसी तरह से अंगुल के असंख्यात भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतनी उसी जघन्य अवगाहना से जन्म लिया। पुनः वे एक-एक प्रदेश को अधिक ग्रहण करते हुए जितने काल में क्रम से सर्वलोक को अपने जन्म से जन्म क्षेत्ररूप कर लेता है तब उतने काल के हो जाने पर एक शेष परिवर्तन होता है।

(3) काल परिवर्तन—

कोई जीव उत्सर्पिणी के पहले समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु समाप्त होने पर मर गया, वह जीव पुनः तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरा समय उत्पन्न हुआ। उसी क्रम से वहीं से उत्सर्पिणी वा समय है। उनमें जन्म के क्रम से उत्सर्पिणी को समाप्त किया तथा अवसर्पिणी को भी समाप्त किया। इस तरह जन्म का निरन्तरपना कहा गया है। मरण का क्रम भी इसी तरह समझना चाहिये अर्थात् वही जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में मरा, पुनः दूसरी उत्सर्पिणी के द्वितीय समय में मरा, पुनः

तृतीय उत्सर्पिणी के तृतीय समय में मरा; इसी क्रम से उत्सर्पिणी के प्रथम समय में मरण किया। पुनः दूसरी अवसर्पिणी के दूसरे समय में मरण किया। इसी क्रम से अवसर्पिणी के समयों को भी मरण से पूरा करे। तब तक एक काल परिवर्तन होता है।

(4) भ्रव परिवर्तन—

कोई वंचेद्विद्य संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव सर्वजघन्य, स्वयोग्य ज्ञानावरण प्रकृति की अन्तः कोटा-कोटी स्थिति को भी प्राप्त होता है। उसके कषाय—अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण षट् स्थान पतित उस स्थिति के योग्य होते हैं। वहाँ उसके सर्वजघन्य कषायाध्यवसाय स्थान के निमित्त अनुभाग अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। इस तरह सर्वजघन्य स्थिति सर्वजघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान और सर्वजघन्य ही अनुभाग अध्यवसाय स्थान को प्राप्त करते हुए जीव के उसके योग्य जघन्य योग स्थान होता है तथा उन्हीं स्थिति, कषाय और अनुभाग स्थानों के असंख्यात भाग वृद्धि युक्त दूसरा योग स्थान होता है। इस प्रकार से चतुर्थ स्थान पतित कषाय अध्यवसाय स्थान होते हैं और श्रेणी के असंख्यात भाग प्रमाण योग स्थान होते हैं। तदनंतर पूर्वोक्त ही स्थिति और पूर्वोक्त ही कषाय अध्यवसाय स्थान को प्राप्त करने वाले जीव के दूसरा अनुभाग अध्यवसाय स्थान होता है, उसके योगस्थान पूर्ववत् समझना चाहिये। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि अनुभाग अध्यवसाय स्थानों में भी असंख्यात लोक परिसमाप्ति होने तक समझना चाहिये। इसी तरह उसी स्थिति को प्राप्त करने वाले के दूसरा कषाय अध्यवसाय स्थान होता है। उसके भी अनुभाग अध्यवसाय स्थान और योग स्थान पूर्ववत् जानना चाहिये। इसी तरह तृतीय, चतुर्थ आदिक कषाय अध्यवसाय स्थानों में असंख्यात लोक परिसमाप्ति तक वृद्धि का क्रम समझना चाहिये। इसी प्रकार ऊपर जो एक समय अधिक जघन्य स्थिति कही है, उसके कषाय अध्यवसाय स्थान अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान और योग स्थान पूर्ववत् जानना चाहिये। इस प्रकार एक-एक समय अधिक के क्रम से उत्कृष्ट स्थिति जो तीस कोड़ा-कोड़ी सागर पर्यन्त है, वहाँ तक कषाय अध्यवसाय स्थान समझना चाहिये। ऐसे ही सर्वकर्मों की मूल प्रकृतियों का और उत्तर प्रकृतियों का परिवर्तन क्रम जानना चाहिये। यह सर्व समुदित भ्रव परिवर्तन कहलाता है।

(5) भ्रव परिवर्तनमुच्यते—

नरकगति में सर्वजघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। कोई जीव उस जघन्य आयु से नरक में उत्पन्न हुआ। संसार में भ्रमण करके पुनः वही जीव उसी दस हजार वर्ष की आयु से उसी नरक में उत्पन्न हुआ, इसी तरह दस हजार वर्ष तक के जितने समय है, उतनी बार उस जघन्य आयु से प्रथम नरक में जन्म लिया और मरण किया। पुनः एक-एक समय अधिक क्रम से तैतीस सागर पर्यन्त आयु को प्राप्त कर

नरक के जन्म को समाप्त किया। वहाँ से निकलकर जीव तिर्यंचगति में अन्तर्मूहुर्त प्रमाण जबन्य आयु से उत्पन्न हुआ। पुनः पूर्व कथित क्रम से तीन पल्य पर्यन्त उत्कृष्ट आयु तक पहुँच गया। इसी तरह मनुष्य गति में समझना। देवगति में नरक गति के समान है। किन्तु अन्तर इतना ही है कि देवगति में इकतीस सागर की आयु तक ही पहुँचना होता है। यह सब चिलकर भव परिवर्तन होता है।

यह चतुर्विध अथवा पंचविध संसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों में भ्रमण के निमित्त से होता है तथा छह, सात आदि भेदों से अनेक प्रकार का भी है। ऐसा जानना चाहिये।

संसार के ज्ञातव्य 6 अनुयोग—

किं केण कस्स कथ्य व केवचिरं कदिविधो य भावो य।

छाहि अणिओगद्वारे सध्वे भावाणुगंतव्या ॥707॥

संसार क्या है? संसरण करना संसार है जो कि चारों गतियों में गमन रूप है। किस भाव से संसार होता है? औद्यिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक, पारिणामिक आदि भावों से संसार होता है। किसके संसार है? जो आठ प्रकार के कर्मों से सहित है, ऐसे नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवरूप संसारी जीवों के संसार होता है? मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इन भावों में संसार होता है। संसार कहाँ है? संसार का लक्ष्य क्या है? यह अनादि-संसार है अथवा तिर्यंक्लोक में संसार है। कितने काल तक संसार है? यह अनादि-अनंत है और अनादि सान्त है अर्थात् अभव्य और दूरानुदूर भव्यों की अपेक्षा अनादि अनंत है तथा भव्यों की अपेक्षा अनंत सान्त है। यह संसार कितने प्रकार का है? सामान्य संसरण की अपेक्षा यह संसार एक प्रकार का है, दो प्रकार का है, ही? तीन प्रकार का है, चार प्रकार का है, पाँच प्रकार का है और छह प्रकार का है तीन प्रकार का है, चार प्रकार का है, पाँच प्रकार का है और छह प्रकार का है। इत्यादि। इन छह अनुयोगों के द्वारा केवल संसार ही नहीं जाना जाता है किन्तु सभी पदार्थ भी जाने जाते हैं।

दुःख सागर-संसार—

तथ्य जरामरणभयं दुखं पियविष्पयोग बहिणयं।

अधिष्ठयसंजोग वि य रोगमहावेदणाओ य ॥708॥

उपर्युक्त कथित प्रकार वाले इस संसार में जन्म के भय का दुःख, जरा और मरण के भय का दुःख अथवा जन्म लेने से हुए दुःख, जो कि कायिक, वाचनिक और मानसिक होते हैं; प्रियजनों के वियोग से इष्ट वियोगज दुःख होता है, जो कि महा भयानक है। अप्रिय अनिष्ट के साथ एकत्र रहने से अनिष्ट संयोगज दुःख होता है। खाँसी, श्वास, सर्दी, कुण्ठ आदि रोगों से उत्पन्न हुई महावेदनाएँ भी होता है। जीवों को प्राप्त होती रहती हैं, अतः यह संसार दुःखमय ही है।

जायंतो य मरन्तो जलथलखयरेसु तिरियणिरएसु।

माणुस्ते देवेते दुखं सहस्राणि पष्पोदि ॥709॥

जलचर, थलचर और नभचर में, तियंचों में, नरकों में, मनुष्य योनि में और देव पर्याय में जन्म लेता तथा मरण करता हुआ यह जीव हजारों दुःखों को प्राप्त करता है।

जे भोगा खलु केई देवा माणुस्सिया य अणुभूदा।

दुक्खं च जंतखुत्तो णिरिए तिरिएसु जोणीसु ॥710॥

वास्तव में जो कुछ भी देवों और मनुष्यों सम्बन्धी भोगों का अनुभव किया है, वे भी नरक और तिर्यंच योनियों में अनन्त बार दुःख देते हैं।

संयोगविष्पओगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।

संसारे अणुभूदा माणं च तहावमाणं च ॥711॥

संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान इन सबका संसार में मैंने अनुभव किया है।

एवं बहुप्यारं संसारं विविह दुक्खं विरसारं।

जाऊण विचित्तिज्जो तहेव लहुमेव णिस्सारं ॥712॥

इस प्रकार नाना दुःखों की स्थिरता के सारभूत इस बहुत भेदरूप संसार को जानकर उसी प्रकार से उसे तत्क्षण निःसार रूप चिन्तवन करो।

—पूलाचार I पृ० 13)

विडम्बयत्यसौ हन्त संसारः समयान्तरे।

अधमोत्तमपर्यायिनियोज्य प्राणिनां गणम् ॥72॥

खेद है कि वह संसार समयान्तर में ही प्राणियों के समूह को निकृष्ट और उत्कृष्ट पर्यायों से संयुक्त करके प्रतारित किया करता है।

स्वर्गी भवति साक्रन्दं श्वा स्वर्गमधिरोहति।

श्रोत्रियः सारमेय स्यात् कृमिर्वा शवपञ्चोपिवा ॥73॥

कभी स्वर्गवासी देव तो विलाप करता हुआ नीचे गिरता है, निकृष्ट योनि में उत्पन्न होता है और हीन गिना जाने वाला कुत्ता स्वर्ग पर चढ़ जाता है, देव हो जाता है। इसी प्रकार श्रोत्रिय वेदाध्यायी ब्राह्मण कभी कुत्ता, क्षुद्र-कीड़ा अथवा चाणडाल भी हो जाता है।

रूपाण्येकानि गृह्णति त्यजत्यन्यानि संततम्।

यथ रङ्गेऽन्न शैलूषस्तथायं यन्त्रवाहकः ॥74॥

जिस प्रकार रंगभूमि में नट निरन्तर अनेक रूपों को ग्रहण करता है और अनेक रूपों को छोड़ता है, उसी प्रकार यह शरीर रूपी यन्त्र को धारण करने वाले प्राणी भी यहाँ संसार में अनेक अवस्थाओं को ग्रहण करता है और अनेकों को छोड़ता है।

सर्वं सर्वेऽपि सम्बन्धाः संप्राप्ता देहधारिभिः।

अनादिकालसंभ्रान्तेस्त्रस्त्वस्थावरयोनिषु ॥77॥

अनादिकाल से व्रस और स्थावर योनियों में परिभ्रमण करने वाले सब प्राणियों ने सब ही सम्बन्धों को पिता-पुत्र और पति-पत्नी आदि अवस्थाओं को प्राप्त किया है। कभिप्रायः यह है—कि अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह प्राणी जिसका कभी पिता होता है, उसी का पुत्र भी हो जाता है। इस प्रकार परिभ्रमण करते हुए ऐसा कोई भी सम्बन्ध शेष नहीं रहा है, जिससे इस प्राणी ने अनेक बार न प्राप्त किया हो।

देवलोके नूलोके च तिरश्च नरकेऽपि च ।
न सा योनिर्न तद्गूपं न स देशो न तत्कुलम् ॥78॥
न तद्दुःखं सुखं किञ्चिन्पर्यायः स विद्यते ।
यत्रते प्राणिनः शशद्यातायातैर्न खण्डितः ॥79॥

देवलोक में, मनुष्य लोक में, तिर्यंचलोक में और नरकलोक में भी (चारों ही गतियों में) वह कोई योनि नहीं है, वह कोई रूप नहीं है, वह कोई देश नहीं है, वह कोई कुल नहीं है और वह कोई दुःख नहीं है, वह कोई सुख नहीं है और वह कोई पर्याय नहीं है, जहाँ पर कि, ये प्राणी निरन्तर यातायातों से गति और अगति से खण्डित न किये गये हों।

न के बन्धुत्व मायातान के जातास्तव द्विषः ।
दुरन्तागाधसंसारपञ्चमगनस्यनिर्दयम् ॥80॥

हे भव्य ! दुःख के साथ नष्ट होने वाले इस अथाह संसार रूप कीचड़ के भीतर फँसे हुए तेरे साथ कौन तो बन्धुभाव को नहीं प्राप्त हुए हैं, खण्डित न किए गये हों और कौन निर्दयतापूर्वक शत्रुभाव को नहीं प्राप्त हुए हैं, जो प्राणी कभी शत्रु रहे हैं वे ही कभी घनिष्ठ मित्र भी रहे हैं।

भूपः कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनायकः ।
शरीरो परिवर्तेत कर्मणा वज्रितो बलात् ॥81॥

इस संसार में कभी राजा तो मर कर झुट्र कीड़ा (लट) हो जाता है और कभी झुट्र कीड़ा भी देवों का इन्द्र हो जाता है। इस प्रकार यह प्राणी कर्म के द्वारा बलपूर्वक ठगा जाकर अनेक योनियों में परिभ्रमण किया जाता है।

माता पुत्रीः स्वसा भार्या सैव संपदातेऽङ्गिनाम् ।
पिता पुत्रः पुनः सोऽपि लभते पैतृकं पदम् ॥82॥

प्राणियों की माता मरकर कभी पुत्री हो जाती है, कभी बहन हो जाती है और वही कभी स्त्री भी हो जाती है। इसी प्रकार पिता मर कर पुत्र हो जाता है और वही पुनः पिता के पद को प्राप्त कर लेता है।

—ज्ञानार्णव

नरकः दुःखातिरेक

णिरएसु जटिथ सोख्खं णिमेसमेतं पि णारयाण सदा ।

दुखाइ दारूणाइं वट्टंते पच्चमाणाणं ॥612॥ (पृ० 117)

—तिलोयपण्णति द्वितीय भाग

नरकों में पचने वाले नारकियों को क्षणमात्र भी सुख नहीं है, किन्तु उन्हें सदैव दारूण दुःखों का अनुभव होता रहता है।

जं कुणदि विसयलद्दो पावं तस्सोदयमिम णिरएसु ।

तिलाओ वेणाओ पावंतो विलवदि विसण्णो ॥613॥

विषयों में लुध्व होकर जीव जो कुछ पाप करता है, उसका उदय आने पर नरकों में तीव्र वेदनाओं को पाकर विषण हो विलाप करता है।

खणमत्ते विसयसुहे जे दुखाइ असंखकालाइ ।

विसंहति घोर-णिरए ताण समो जटिथ णिवुद्दो ॥614॥

जो लोग क्षणभर रहने वाले विषय सुख के निमित्त असंख्यात काल तक दुःखों का अनुभव करते हुए घोर नरकों में प्रवेश करते हैं, उनके समान निर्बुद्धि और कोई नहीं है।

अंधो णिवड़इ कूवे बहिरो ण सुणेवि साधुउवदेसं ।

पेच्छंतो णिमुणंतो णिरए जं पड़इ तं चोज्जं ॥615॥

यदि अंधा कुएँ के गिरता है, और बहिरा सुदुपदेश को नहीं सुनता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु जीव तो देखता है व सुनता हुआ भी नरक में पड़ता है यह आश्चर्य है।

पशुगति दुःख की राशि—

भोत्तूण णिमिसमेतं विसयसुहं विसयदुखबहुलाइ ।

तिरयगदीए पावा चेट्टंति अणंत कालाइ ॥616॥

जो लोग क्षणमात्र रहने वाले विषय सुख के निमित्त असंख्यात काल तक दुःखों का अनुभव करते हुए घोर नरकों में प्रवेश करते हैं, उनके समान निर्बुद्धि और कोई नहीं है।

ताङ्णतासणवंधणवाहणलंछणविहेडणं दमणं ।

कणच्छेदणणासार्विधणणिलंछणं चेव ॥617॥

छेदणभेदणदहणं णिपीडण गालणं छुधा तण्णा ।

मक्खणमदणमलणं विकत्तणं सीदमुण्णं च ॥618॥

तिर्यंच गति में ताड़ना, नास देना, बांधना, बोझ लादकर देशान्तर को ले जाना, शंखादिक के आकार से जलाना, कष्ट पहुँचाना, दमन करना, कानों का

देदना, नासा का बेधना, अण्डकोश को नष्ट करना, मर्दन, मलन, विकर्त्तन, शीत और उष्ण (इत्यादिक दुःख) प्राप्त होते हैं।

एवं अण्टत्खुतो णिच्चच्छुगदिणिगोदमज्जम्मि ।

जम्मणमरणरहट्टं अण्टत्खुतो परिगदो जं ॥619॥

इस प्रकार अनन्तबार नित्य और चतुर्गति (इतर) निगोद में जाकर अनन्तबार जिस जन्म मरण रूप अरहट् (घटीयंत्र) को प्राप्त किया है (उसके विषय में विचार कर)।

मनुष्य दुःख की खान—

पञ्चगदपावगुरुगो मादापिदस्स रत्सुषकादो ।

जाहूण य दसरत्तं अच्छदि कललस्सरूवेण ॥620॥

पूर्वकृत महापाप के उदय से जीव माता के रक्त और पिता के शुक्र से उत्पन्न होकर दस रात्रि तक कललरूप पर्याय में रहता है।

कलुसीकदम्मि अच्छदि दसरत्तं तत्त्वियं मि विरभूदं ।

पत्तेकं मासं चिय बुद्धुदध्यनभूद मांसपेशी य ॥621॥

पंचपुलगाड़अंगोवंगाइं चम्मरोमणहरूवं ।

फंदंगमट्ठममासे जबमे दसमे य णिगमर्ण ॥622॥

पश्चात् दस रात्रि तक कलुषीकृत पर्याय में और इतनी ही अर्थात् दस रात्रि तक स्थिरभूत पर्याय में रहता है। इसके पश्चात् प्रत्येक मास में क्रम से बुद्धुद, घनभूत, मांसपेशी, पाँच पुलक आंगोपांग और चर्म तथा रोम व नखों की उत्पत्ति होती है। पुनः आँठवें माँस में स्पदन किया और नीवें और दसवें मास में निर्गमन होता है।

आसुची अपेक्खणीयं दुर्गंधं मुत्तसोणिदुवारं ।

बोन्तुं पि लज्जणिङ्गं पोट्टमुहं जम्मभूमि से ॥623॥

जो अशुचि है, आदर्शनीय है, दुर्गंध से युक्त है, मूत्र और खून का द्वार है और जिसके कहने में भी लज्जा आती है, ऐसा जो उदर का मुख (योनि) है वह इस प्राणि के जन्म का स्थान।

आमासयस्स हेट्टा उवर्ति पवकासयस्स गूथम्मि ।

मज्जम्मि वत्तियपडले पच्छणो वमिकपिज्जंतो ॥624॥

अच्छदि जावदसमासे गढमे आहरदि सद्वअंगेसु ।

गूथरसं आइकुणिम धोरतरं दुक्खसंभूदं ॥625॥

यह प्राणी गर्भ समय में आमाशय के नीचे और पवकाशय के ऊपर मल में बीचों-बीच वस्तिपटल से (जरायुपटल से) आच्छादित, वान्ति (वमन) को पीता

हुआ नौ-दस मास गर्भ में स्थित रहता है, और वहाँ सब अंगों में अत्यन्त दुर्गंध से युक्त एवं भयानक दुःख से उत्पन्न ऐसे विष्ठा को आहार के रूप में प्रहण करता है।

बालतणम्मि गुरुणं दुक्खवंत्तो अजाणमाणेण ।

जोववणकाले मज्जे इत्थीपासम्मि संससो ॥626॥

यह जीव बालकपन में अज्ञान रहने से भारी दुःख को प्राप्त हुआ, और यौवनकाल में स्त्री के पास में आसक्त रहा।

वेदिदि विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुष्विमोचेहिं ।

कोसेण कोसकारो व दुम्मदी मोहपासेसु ॥627॥

जिस प्रकार रेशम का कीड़ा रेशम के तन्तुजाल से अपने आपको वेष्ठित करता है, उसी प्रकार यह दुर्मति जीव मोहपाश में बंध कर विषय के निमित्त दुष्विमोच स्त्रीरूप पाशों से अपने को मोहजाल में फँसा लेता है।

कामातुरस्स गच्छदि खणमिव संबच्छराणि बहुगाणि ।

पाणितलधरिदंडो बहुसो चितेदि दीनमुहो ॥628॥

कामातुर जीव के बहुत से वर्ष क्षणमात्र के समान चले जाते हैं। वह हस्त-तल पर कपोल को रखकर दीनमुख होता हुआ बहुत प्रकार चिन्ता करता है।

कामुम्मुत्तो पुरिसो कामिज्जंते जणे अलभ्याणे ।

धत्तदि मरिदुं बहुधा मरुप्पपातादिकरणेहिं ॥629॥

कामोन्मत्त पुरुष अभीष्ट जन को न पाकर बहुधा मरुप्रपातादि साधनों से मरने की चेष्टा करता है।

कामपृणो पुरिसो तिलोकसारं पि जहूदि सुदलाहं ।

कुणदि असंजमवहूलं अण्टत्संसारसंजणणं ॥630॥

काम से परिपूर्ण पुरुष तीन लोक में श्रेष्ठ श्रुतलाभ को छोड़ देता है। और अनन्त सागर को उत्पन्न करने वाले प्रचुर असंयम को धारण करता है।

उच्चो धीरो वीरो बहुमाणीओ वि विसयलुद्धमई ।

सेवदि णीचं णिच्चं सहदि हु बहुगं पि अबमाणं ॥631॥

उच्च धीर, वीर और बहुमानी भी मनुष्य विषय में लुब्ध बुद्धि होकर नित्य ही नीच का सेवन करता है और बहुत प्रकार के अपमान को सहता है।

दुक्खं दुज्जसबहूलं इह लोगे दुर्गादि पि परलोगे ।

हिंडदि दूरमपारे संसारे विसयलुद्धमई ॥632॥

जिसकी बुद्धि विषयों में लुब्ध है, वह पुरुष इस लोक में प्रचुर अपकीर्तियुक्त दुःख को तथा परलोक में दुर्गंति को प्राप्त करके अपार संसार में बहुत काल तक परिभ्रमण करता है।

विसयामिसेहि पुण्णो अणंतसोद्धाण हेदु सम्मतं ।
सच्चारितं जहदि हु तणं व लज्ज च मज्जादं ॥633॥

विषयभोगों से परिपूर्ण पुरुष अनन्तसुख के कारणभूत सम्यक्तव, सम्यक्चारित
तथा लज्जा और मर्यादा को तृण के समान छोड़ देता है।

सीदं उणं तणं छुधं च दुस्सेज्जभत्तपंथसमं ।
सुकुमालको वि कामी सहदिवहदि भारमदि गुरुं ॥634॥

सुकुमार भी कामी पुरुष शीत, उषण, तृण, धुधा, दुष्ट शश्या, खोटा आहार
और मार्गश्रम को सहता है तथा अत्यन्त भारी बोझों को ढोता है।

अपि य बधो जीवाणं मेहृणसव्याए होदि ब्रह्मगाणं ।
तिलणालीए तत्त्वायसप्यवेसो व्य जोणीए ॥635॥

तथा मैथुन संज्ञा से तिलों की नाली में तप्त लोहे के प्रवेश के समान योनि
में बहुत से जीवों का वध होता है।

इह लोके वि महल्लं दोसं कामस्स वसगदो पत्तो ।
कालगदो वि अणंत दुख्यं पावेदि कामंधो ॥636॥

काम के वशीभूत हुआ पुरुष इस लोक में भी महान् दोष को प्राप्त होता है
और कामान्ध हुआ मरकर परलोक में भी अनन्त दुःख पाता है।

सोणियसुबकुपाइयदेहो दुख्याइ गव्यवासम्मि ।
सहिदूण दारुणाइ धिद्वो पावाइ कुणइ पुणो ॥637॥

शोणित और शुक्र से उत्पन्न हुई देह से युक्त जीव महाभयानक दुःखों को
सहकर निर्लज्ज हुआ फिर से पापों को करता है।

वाहिणिहाणं देहो बहुपोससुपोसियो वि सयवारं ।
अत्वी पवणपणोलियपादपदलचंचलसहावो ॥638॥

बहुत से पुष्टिकारक पदार्थों से अच्छी तरह सैकड़ों प्रकार से पोषा गया भी
यह व्याघ्रियों का निधान भूत शरीर पवन से प्रेरित वृक्ष के पत्ते के समान चंचल
स्वभाव वाला है।

तारणं तडितरलं विसयापेरं विरसवित्थारा ।
अथो अणत्यसूलं अविचारियसुंदरं सव्यं ॥639॥

विषयाभिरक्त तारण्य विजली के समान चंचल है और अर्थ अर्थात् इन्द्रिय
विषय नीरसतापूर्ण हैं, अनर्थ के मूल कारण हैं, इस प्रकार ये सब अनर्थ के मूल और
अविचारितरम्य ही हैं।

माता पिता कलत्तं पुत्ता बंधु य इन्द्रजालाय ।
दिदृपणद्वाइ खणो मणस्स दुस्हाइ सल्लाइ ॥640॥

माता, पिता, पुत्र, कलत्र और बन्धुजन ये सब इन्द्रजाल के समान शणभर
में देखते-देखते नष्ट होते हुए मन के लिये दुस्सहशल्य हैं।

देवगति : मानसिक दुर्गति—

पत्ताए थोवेहि सोख्यं भावेहि णिच्चगरुवाइ ।
दुख्याइ माणसाइ देवगदीए अणुभंवति ॥641॥

देवगति में सुख को प्राप्त हुए जीव उस सुख के विनाश की चिन्ता रूप
भावों से नित्य ही महान् मानसिक दुःखों का अनुभव किया करते हैं।

सुख सम्पत्ति : पंचम गति—

चइदूण चउगदीओ दारणदुख्यारदुख्याणीओ ।
परमाणंदिणिहाणं णिध्याणं आसु बच्चामो ॥642॥

अतःएव दारण और दुनिवार दुःखों की खानिभूत इन चारों गतियों को
छोड़कर हम उत्कृष्ट आनन्द के निधान स्वरूप मोक्ष को शीघ्र ही प्राप्त करें।

संसार है उल्टा यामें सम्यक् सार नहीं ।
असृतामति से विष झरें है यशोधर अयश फैलाइ ॥

(कनकनम्बी महाराज कृत)

1. घर में रहो या बाहर, परिणाम हर जगह निमंल रखने चाहिये ।
इसमें मनुष्य का कल्याण है। —मुनि विद्यानन्द

2. केवल मूर्ख और मृतक ये दो ही अपने विचारों की नहीं बदलते ।
—लावेल

3. किसी को अपने विचार दूसरों पर नहीं लादने चाहिये । —म० गांधी

4. रात को सोने से पहले अपने तमाम दिन के कार्यों पर विचार करो ।
—सत्य काशीराम

5. सहसा-उतावली में कोई काम न करो क्योंकि बिना विचारे काम
करना धोर अनर्थ का कारण होता है। —भारवि

अध्याय

5

एकत्व-अनुप्रेक्षा

एकत्व—

बार-बार होने वाले जन्म, जरा, मरणों के महादुःखों के अनुभव के लिये सहायता की अपेक्षा न रखना एकत्व है। एकत्व और अनेकत्व ये दोनों ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से 4 प्रकार के हैं। (चारित्रसार पृ० 171)

द्रव्यएकत्व—जीवादिक पदार्थों में से किसी एक पदार्थ के विषय को लेकर अभेद बुद्धि रखना द्रव्य एकत्व है।

क्षेत्रएकत्व—परमाणु के रहने योग्य प्रदेश के क्षेत्र एकत्व है।

कालएकत्व—अभेद रूप समय को कालएकत्व कहते हैं।

भावएकत्व—मोक्ष मार्ग को भाव एकत्व कहते हैं।

अनेकत्व—जिस प्रकार अभेद विषय को एकत्व कहते हैं उसी प्रकार भेद विषय को अनेकत्व कहते हैं।

संसार में न तो कोई भी पदार्थ एक है और न अनेक ही है किन्तु सामान्य की अपेक्षा से एक है और विशेष की अपेक्षा से अनेक है। जिस जीव ने बाह्य आध्यात्मिकों का त्याग कर दिया है तथा सम्यग्ज्ञान से एकत्व का निश्चय कर लिया है उसके एक यथाख्यात चारित्र की वृत्ति धारण करने से मोक्षमार्ग के भाव प्रगट होते हैं इसीलिये उसके वह एकत्व कहलाता है। उस एकत्व की प्राप्ति के लिये “इस संसार में मैं अकेला हूँ” “स्व” और “पर” मेरा कोई नहीं है। मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ और अकेला ही मरता हूँ। स्वजन और परजन कोई मनुष्य भी मेरी व्याधियाँ-बुढ़ापा और मरण आदि के दुःखों को दूर नहीं कर सकता। बन्धु, मित्र आदि शमशान से आगे नहीं जा सकते। एक धर्म ही मेरा सहायक है और वही ऐसा है जो कभी नाश न होगा “इस प्रकार चिन्तवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तवन करने से अपने कुटुम्बी लोगों से प्रेम नहीं बढ़ता और अन्य लोगों में द्वेष नहीं बढ़ता। इस प्रकार राग-द्वेष का अभाव होने से निःसंगता बढ़ती है और निःसंगता बढ़ने से मोक्ष प्राप्त होता है।

सयणस्स परिणस्स य मज्जे एकको रुवंतओ दुहिदो ।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोइ समं एदि ॥700॥

(मूलाचार II)

भतीजा, चाचा आदि स्वजन हैं। दास, दासी, मित्र आदि परिजन हैं। इनके मध्य में भी यह जीव असहाय है। अकेला ही यह जीव व्याधि से पीड़ित होता है, अकेला ही दुःखी होता है, रोता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अन्य कोई भी जन इसके साथ परलोक नहीं जाता।

एकको करेइ कम्मं एकको हिंडदि य दहिसंसारे ।

एकको जायदि मरदि य एवं चितेहि एयत्तं ॥701॥

यह जीव अकेला ही शुभ अशुभ कर्म बौद्धता है, अकेला ही दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता है। अकेला ही जन्म और मरण करता है। इस तरह एकत्वभावना का चिन्तवन करो। यह एकत्व भावना हुई।

महाव्यसनसंकीर्ण दुःखज्वलनदीपिते ।

एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गं भवमरुस्थले ॥84॥

(ज्ञानार्णव 2 द्वादश भावना)

भयानक विपत्तियों से व्याप्त और दुःखरूप अग्नि से संतप्त इस दुर्गम संसार रूप मरुस्थल (रेगिस्तान) में यह जीव अकेला ही परिभ्रमण किया करता है।

स्वयं स्वकर्मनिवृतं फल भोक्तुं शुभाशुभम् ।

शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वव सर्वथा ॥85॥

यह जीव स्वयं किये हुए कर्म का जो शुभ और अशुभ फल निर्मित हुआ है, उसको भोगने के लिये सब योनियों में सब प्रकार से अकेला रहकर असहाय होकर अन्य-अन्य शरीर को ग्रहण किया करता है। अभिप्राय यह है कि प्राणी अपने और कौटुम्बिक जन आदि के निमित्त से जो भी भला बुरा कार्य करता है उससे संचित हुए पुण्य और पाप के फल को एक वही भोगता है—इसमें उसका अन्य कोई भी सहायक नहीं होता है।

संकल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम् ।

निविशत्ययमेवंकः स्वर्गश्शीरञ्जिताशयः ॥86॥

प्राणी, पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से स्वर्ग की लक्ष्मी से मन में अनुरंजित होकर संकल्प के पश्चात् उत्पन्न हुए दिव्य स्वर्गीय सुखरूप अमृत को अकेला ही भोगता है।

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणोऽथवा ।
सुख-दुःखविधी चास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः ॥८७॥

संयोग और वियोग में जन्म और मरण में तथा सुख और दुख के विधान में इस जीव का दूसरा कोई भी मित्र नहीं है, सहभागी भी नहीं होता है ।

वित्तपुत्रकलत्रादिकृते कर्म करोत्ययम् ।
यत्तस्य फलमेकाकी शुद्धतेश्वभादिभूमिषु ॥८८॥

यह प्राणी धन, पुत्र और स्त्री आदि के निमित्त से जो कर्म करता है उसके दुःख-सुख रूप फल को वह अकेला ही नरकादि पृथिवियों में भोगता है ।

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम् ।
न तु सोहुं स्वकर्मोत्थां निर्दयां ध्यसनावलीम् ॥८९॥

स्त्री और पुत्र आदि जो भी इस प्राणी के सहायक होते हैं वे केवल उसके द्वारा उपार्जित धन के भोगने में ही सहायक होते हैं । परन्तु उस धन के संचय में उसने जिस कर्म को उपार्जित किया है उससे उत्पन्न हुए कूर दुःखों के समूह के भोगने में उनमें से कोई भी सहायक नहीं होता है ।

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः ।
भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विद्यविड्धितः ॥९०॥

ज्ञानादि रूप नेत्र से रहित होने के कारण अपने निज स्वरूप से अनभिज्ञ यह प्राणी कर्म से ठगा जाकर अकेला ही इस संसार में परिभ्रमण करता है ।

यदैवं मनुते मोहाद्यमर्थः स्थिरेतरः ।
तदा स्वं स्वेन बधनाति तद्विपक्षः शिवीभवेत् ॥९१॥

यह जीव मोहवश होकर जब तक स्थिर और अस्थिर (विनश्वर) पदार्थों के साथ अपनी एकता मानता है ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ इस प्रकार की ममत्व बुद्धि रखकर उनको आत्मा से भिन्न नहीं समझता है तब तक वह अपने आपको उनसे स्वर्य को बांधता है—उनके आधीन रहकर व्याकुल होता है और इससे विपरीत प्राणी जो स्थिर और अस्थिर सब ही बाह्य पदार्थों को आत्मा से भिन्न समझकर उनमें अनुरक्त नहीं होता है, बन्धन से मुक्त होकर शाश्वतिक सुख का भोक्ता हो जाता है ।

एकाकित्वं प्रपञ्चोऽस्मि यदाहं वीतविभ्रमः ।
तदैव जन्मसम्बन्धः स्वयमेव विशीर्यते ॥९२॥

जब मैं विपरीत बुद्धि को छोड़कर बाह्य पर पदार्थों में आत्मबुद्धि न करके एकाकीपन को (अद्वैतभाव को) प्राप्त हो जाता हूँ । उसी समय मेरे संसार का संबन्ध स्वर्य ही नष्ट हो जाता है ।

अभिप्राय यह है कि जब तक शरीरादि बाह्य पदार्थों को अपना मानकर उनमें मुग्ध रहता है तब तक वह कर्मबन्धन में बद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करता है और इसके विपरीत जब वह शरीरादि को आत्मा से भिन्न मानकर उनकी ओर से विरक्त होता हुआ आत्मस्वरूप में मग्न होता है । तब वह नवीन कर्मबन्ध से रहित होकर पूर्वसंचित कर्म की निर्जरा करता हुआ मुक्त हो जाता है ।

एकः स्वर्गी भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभूजः ।

एकः श्वासं पिवति कललं लिङ्घमानः कृपाणः ॥

एकः क्रोधाद्यनलक्षितः कर्म बधनात्यविद्वान् ।

एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥९३॥

एक विद्वान् (विवेकी) स्वर्गवासी देव होकर देवांगनाओं के मुखरूप कमल का भ्रमर बन जाता है । उनके साथ दिव्य भोगों को भोगता है, इसके विपरीत एक प्राणी तलवारों से छेदा जाकर नरक के कीचड़ को पीता है—नरक में नारकी होकर (महान्) दुःख को भोगता है, एक अज्ञानी प्राणी क्रोधरूप अग्नि से सन्तप्त होकर कर्म को बांधता है, तथा इसके विपरीत एक जीव समस्त आवरण से (ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों से) रहित होकर ज्ञानरूप राज्य का उपभोग करता है—मुक्त होकर अनन्तज्ञानादि से संयुक्त हो जाता है । तात्पर्य यह है कि यह जीव जैसा आचरण करता है तदनुसार वह अकेला ही या तो कर्मबन्ध में बँधकर नरकादि गतियों में परिभ्रमण करता या फिर उक्त कर्मबन्धन से रहित होकर निराकुल सुख को भोगता है ।

दो मैं हैं बधनं विवाह, दो मैं हीं संसार ।

एकत्वं मैं सब नशे, पाये सच्चिदानंद सार ॥ (कनकनंदी कृत)

1. उस काम का करना अच्छा नहीं जिसे करके पोछो पछताना पड़े और जिसके फल को रोते हुए भोगना पड़े । —धर्मपद्र

2. सादा जीवन और उच्च विचार ही मनुष्य को महानता की ओर ले जाते हैं । —म० गंधी

3. जिस प्रकार मैंने दर्शन में मुख दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार राग भाव से रंगे हुए हृदय में वीतराग शांत प्रभु का दर्शन नहीं होता, यह सुनिश्चित है । —मुनि गणेश वर्णी

अध्याय

6

अन्यत्वानुप्रेक्षा

नाम स्थापना द्रव्य भाव के अवलम्बन के भेद से अन्यत्व 4 प्रकार का होता है। (चरित्रसार पृ० 172)

नाम—आत्मा है, जीव है यह नाम भेद है।

स्थापना—काष्ठ, पाषाण, आदि से बनायी गयी प्रतिमा स्थापना भेद है।

द्रव्य—यह जीव द्रव्य है, अजीव द्रव्य है आदि द्रव्य भेद है।

भाव—एक ही जीव द्रव्य में बालक, युवा, मनुष्य, देव आदि भाव भेद है।

लक्षण—यद्यपि जीव कर्मों का बंध होने से दोनों एक ही रहे हैं तथापि लक्षण भेद से दोनों भिन्न हैं। जीव ज्ञानोपयोगी और दर्शनोपयोग रूप है तथा पुद्गल अर्थात् कर्म वर्ण, गन्ध, रस स्पर्श वाला है। इन लक्षण से दोनों में भेद हुआ।

प्रतिसमय अनन्तानन्त कर्म परमाणु योगों के निमित्त से आते हैं तथा जीव के प्रदेशों में (दूध पानी के समान) परस्पर एक-दूसरे के प्रदेशों में मिलकर ही एक हो जाते हैं। कपायों के निमित्त से उनमें ठहरने की शक्ति हो जाती है, इसीलिए वे वहीं ठहर भी जाते हैं। इसी प्रकार प्रतिसमय में अनन्तानन्त कर्म पुद्गल जीव को छोड़कर अलग भी हो जाते हैं। इस प्रकार यह बंध के प्रति भेद सिद्ध होता है। जो कर्म पुद्गल भी बंधन गुण से जीव में दूध पानी के समान एक बंध रूप हो जाता है और फिर प्रतिक्षण में निजीर्ण होते जाते हैं। यह जीव स्वयं कर्मों के निमित्त से उनके योग्य शरीर बनाता है परन्तु वह उस शरीर में रहकर भी जिस प्रकार नख, रोम और दाँतों की हड्डियों में नहीं रहता उसी प्रकार हाथिर, वसा, शुक्ररस, श्लेष्मा, पित्त, मूत्र, पुरीष (भिष्टा) और मस्तिष्क आदि के प्रदेशों में भी नहीं रहता। इस प्रकार यह जीव कर्मों के द्वारा वने हुए शरीर से बिल्कुल भिन्न रहता है। तथा किसी कुशल पुरुष के प्रयोग करने पर (मोक्ष के लिये उद्यम करने पर) शरीर से अत्यन्त भिन्न होने के कारण जो आत्मा से कभी भिन्न हो नहीं सकते ऐसे ज्ञान आदि अनन्त गुणों के साथ-साथ स्थान में जाकर प्राप्त होता है। उस मोक्ष स्थान के प्राप्त होने के लिये “यह शरीर इन्द्रियमय है मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञान व जड़ स्वरूप है,

परन्तु मैं ज्ञान स्वरूप हूँ। यह शरीर अनित्य है मैं नित्य हूँ। शरीर का आदि-अन्त दोनों हैं। परन्तु मेरा न आदि है और न अन्त है। शरीर में परिभ्रमण करते हुए मेरे बहुत से शरीर व्यतीत हो गये परन्तु मैं ज्यों का त्यों वही बना हुआ हूँ और उन शरीरों से सर्वथा भिन्न हूँ। हे ! अंग (हे जीव) यह मेरी आत्मा शरीर से भी भिन्न है फिर धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रहों की तो बात ही क्या है, अर्थात् उनसे तो भिन्न है ही।” इस प्रकार चित्तवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार मन को समाधान करने वाले इस जीव के शरीर आदि में जो स्पृहा था उसकी इच्छा नहीं होती और उन पदार्थों की इच्छा न होने से यह जीव अपने कल्याण में लग जाता है।

अन्य सर्वदा अन्य रहे ताते दुःख साधना ।

अप्या सदा अप्या रहे ताते सुख खजाना ॥

(“कनकनन्दी मुनिमहाराजकृत”)

1. वीतराग भगवात् को पाने के लिये संसार से राग घटना ही राजमार्ग है। —श्री मदरजाचन्द्र

2. अपने ऊपर विजय पाना सारे संसार पर विजय पाने से ज्यादा महत्व की चीज़ है। —डा० रमन

3. विजय उसी को प्राप्त होती है जो विजयी होने का साहस करता है। —अशोक

4. मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने से बड़ी योग्यता दर्शायी है परन्तु अपने ऊपर शासन करने से वह बहुत ही पिछड़ा हुआ है। —चिवेकानन्द

5. वादा करना आसान है, वादा करके उसे भूल जाना बहुत आसान है, मगर वादा करके उसे पूरा करना बहुत मुश्किल है। —एस० डी० ससरे

अध्याय

7

अशुचित्वानुप्रेक्षा

पवित्रता दो प्रकार की है एक लोकोत्तर और दूसरी लौकिक।

लोकोत्तर पवित्रता—

जिसने विशुद्ध ध्यानरूपी जल से अपने समस्त कर्ममल-कलंक धो डाले हैं, नष्ट कर दिये हैं, ऐसे आत्मा का अपने ही आत्मा में स्थिर रहना लोकोत्तर पवित्रता कहलाती है। उस लोकोत्तर पवित्रता के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित और सम्यक् तपश्चरण है।

आधार—

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तपश्चरण को धारण करने वाले साधुजन उस पवित्रता के आधिकारित या आधार है। अथवा उस लोकोत्तर पवित्रता के उपायभूत होने से निर्वाणभूमि आदि भी पवित्र कहलाती है।

लौकिक पवित्रता—

काल, अग्नि, भस्म मृतिका (मिट्टी) गोमय (गोबर) जल पवनादि अज्ञान और निर्विचिकित्सा के भेद से 8 प्रकार के हैं, परन्तु यह शरीर किसी तरह से पवित्र नहीं किया जा सकता। इसका भी कारण यह है कि वह अत्यन्त अपवित्र है। इस शरीर के आदि कारण और अन्त के कारण दोनों ही अपवित्र हैं इसीलिये यह शरीर भी अपवित्र है इसी बात की आगे दिखलाते हैं। शरीर के आदि कारण अर्थात् शरीर बनने के कारण शुक्र और शोणित हैं परन्तु वे दोनों ही महा अपवित्र हैं। शरीर के उत्तर कारण आहार का परिणाम आदि हैं यह आहार खाने के साथ ही श्लेष्माशय को प्राप्त होता है और वहाँ पर श्लेष्मा के द्वारा कुछ द्रवीभूत होकर पतला होकर और अधिक अपवित्र हो जाता है। वहाँ से पित्ताशय में पहुँचता है और पककर कुछ खट्टा सा होकर उससे भी अधिक अपवित्र हो जाता है। पककर वह आहार बाताशय में पहुँचता है और वहाँ वायु से विभक्त होकर (अलग-अलग भागों में बँटकर) खलभाग और रस भागों में बँट जाता है। खलभाग, मूत्र पुरीष (मिठ्ठा) आदि पतले और कड़े मल के विकार में परिणत होकर अलग निकल जाता है। रसभाग शोणित (रक्त या खून-लोह) मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र रूप परिणत हो जाता है। इन सब अपवित्र पदार्थों का पात्र यह शरीर है जो कि भिष्टा के समान ऐसा अपवित्र है कि उसको पवित्र करने का कोई

उपाय हो ही नहीं सकता। इस शरीर की अपवित्रता स्नान करने, उबटन लगाने, घिसने और वस्त्रमाला आदि के पहिनने से कभी दूर नहीं हो सकती। जिस प्रकार अग्नि में जो चीज़ पड़ जाती है वह भी अग्नि रूप ही हो जाती है उसी प्रकार चन्दनादि जो पदार्थ इस शरीर पर लगाये जाते हैं वे भी शरीर रूप ही अपवित्र हो जाते हैं। गोबर, गोरोचन, हाथी के दाँत, चमरी गाय के बाल, मृगनाभि (कस्तूरी), गेंडा के सींग, मोर की पूँछ, साँप की मणि, सीप का मोती आदि शरीर से उत्पन्न हुए पदार्थ संसार में पवित्र माने जाते हैं। परन्तु इस शरीर में कुछ भी भाग पवित्र और सुन्दर नहीं है। न जलादि ही इसकी पवित्रता के कारण हो सकते हैं। इस संसार में केवल सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही ऐसे हैं कि जिनकी भावना करने से यह जीव अत्यन्त पवित्र हो जाता है। इस प्रकार शरीर के वास्तविक तत्त्व का चिन्तन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।” इस प्रकार इस अनुप्रेक्षा के चिन्तन करने से शरीर से वैराग्य उत्पन्न होता है और फिर विरक्त होकर यह जीव जन्म-मरण रूपी महासागर से पार होने के लिये अपना चित्त लगाता है।

युद्ध सञ्चिदानन्द स्वरूप भगवान् आत्मा को छोड़कर बाहा समस्त चेतना अचेतनात्मक राग, द्रेष, मोह, धन, सम्पत्ति, वैभव आदि आत्म स्वरूप से भिन्न होने के कारण आत्मा के लिये त्यजनीय, हेय, अशुभ, अशुचि, अपवित्र स्वरूप है क्योंकि उपरोक्त निर्मित से आत्मा को बंधन में डालने वाले, संसार में परिघ्रनण करने वाले, अनन्त दुःख संताप को देने वाले पवित्र आत्मा को अपवित्र करने वाले, जड़ कर्म का आत्मा के साथ संश्लेष बंध होता है। इसीलिए राग द्रेषादि अशुचि के कारण होने से स्वर्य अशुचिस्वरूप है। शरीर, रज, वीर्य, रक्त, मांस, अस्थि आदि अपवित्र से निर्मित होने के कारण स्वयंमेव तो वह अशुचि स्वरूप है ही तथा शरीर के ममत्व, आसक्ति आदि के कारण जीव को कर्मबंध होने के कारण शरीर के लिये अशुचिस्वरूप है।

अन्यान्य आचार्यों ने ‘अशुचि अनुप्रेक्षा’ में विशेषतया शरीर की अशुचिता के बारे में वर्णन किए हैं परन्तु कुन्दकुन्द आचार्य अशुचि अनुप्रेक्षा का नामान्तर अशुभ देकर इस अनुप्रेक्षा में केवल शरीर नहीं, शरीर के अलावा राग-द्रेषादि को अशुभ बताये हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर कोई विशेष विरोध प्रतीती नहीं होते हैं क्योंकि जो आत्मा के लिये अहितकर, धातक, दुःख कष्टकर हैं वे सब अशुचि हैं, अपवित्र हैं, अशुभ हैं।

चारों गति अशुभ—

गिरिएसु असुहमेयन्तमेव तिरियेसु बंधरोहावी।

मणुएसु रोगसोद्वादियं तु दिवि माणसं असुहं ॥722॥

(मूलाचार II)

नरकों में एकान्त से अशुभ ही है तिर्यंचों में बन्धन और रोधन आदि मनुष्यों में रोग, शोक आदि और स्वर्ग में मनसम्बन्धी अशुभ हैं।

मरक में एकान्त से सर्वकाल अशुभ ही है। भैंस, घोड़ा, हाथी, बकरा आदि प्राणी में बौधना, रोकना, दमन करना, जलाना, ताड़न करना, पीटना आदि दुःख प्राप्त होते हैं। मनुष्यों में रोग, शोक आदि अशुभ दुःख होते हैं। तथा स्वर्ग में देवों की मानसिक दुःख होता है, सो ही अशुभ हैं। अर्थात् दूसरे देवों द्वारा प्रेरित होकर भूत्य कार्य करना, दूसरों के वाहन बनना अथवा अन्य देवों की महान् ऋद्धियों को देखकर मन में खिच होना—ये सब मनोगत अत्यन्त दुःख होते हैं।

धन अशुभ—

आयासदुःखवेरभयसोगकलिरागदोसमोहाणं ।

असुहाणमावहो विय अत्यो मूलं अणत्थाण ॥723॥

धन सब अनर्थों का मूल कारण है। उसमें थ्रम, दुःख, वैर, भय, शोक, कलह, राग, द्वेष और मोह इन अशुभों का प्रसंग होता ही है।

धन का उपार्जन करने में प्रयत्नशील होने से जो खेद होता है वह आयास है। असातावेदनीय कर्म के उदय के निमित्त से जो खेद होता है वह दुःख है। मरणांत द्वेष को वैर कहते हैं। भयकर्म के उदय से जो त्रास होता है वह भय है। शोक कर्म के उदयपूर्वक इष्ट वियोग से उत्पन्न हुआ सन्ताप शोक है। वचन-प्रतिवचन रूप द्वन्द्व कलह है अर्थात् आपस में झगड़ने का नाम कलह है। रतिकर्म के उदय से उत्पन्न हुई प्रीति राग है। अरतिकर्म के उदय से उत्पन्न हुई अप्रीति द्वेष है। मिथ्यात्व असंयम आदि रूप परिणाम मोह है। ये सब अशुभ कहलाते हैं। अर्थ से ही ये सभी अशुभ परिणाम होते हैं। अथवा यह अर्थ ही सभी अशुभों को प्राप्त कराने वाला है।

स्त्री, सुवर्ण आदि को अर्थ कहते हैं। यह अर्थ सब अनर्थों का मूल है। अर्थात् इसमें नाना प्रकार के परिभव तिरस्कार प्राप्त होते हैं। इसीलिये इससे जो शुभ होता है वह शुभ ही नहीं है, ऐसा समझना। अर्थात् धन स्त्री आदि पदार्थों से जो कुछ भी सुख प्रतीत है वह सुख नहीं है, प्रत्युत सुखाभास ही है।

कामसुख अशुभ—

दुश्गमदुल्लाहलाभा भयपउरा अप्पकालिया लहुया ।

कामा दुखविवागा असुहा सेवजजमाणा वि ॥724॥

जो दुःख से और कठिनता से मिलते हैं, भय प्रचुर है, अल्पकाल टिकने वाले हैं, तुच्छ हैं, जिनका परिणाम दुःखरूप है, ऐसे ये इन्द्रिय विषय सेवन करते समय भी अशुभ ही हैं।

पञ्चेन्द्रियों के विषय सुखों को कामसुख कहते हैं। ये विषय सुख-दुःख मिलने वाले होने से दुर्गम है, अर्थात् विषयम स्थित वाले और दुरारोह हैं। इनकी प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है, अतः ये दुर्लभ हैं, अर्थात् इच्छित की प्राप्ति नहीं हो पाती है। इनसे भय की प्रचुरता है, अर्थात् इनसे दण्ड, मरण वंचना आदि भय होते ही हैं। ये क्षणिक हैं, अर्थात् स्वल्पकाल ठहरने वाले हैं, निस्पार हैं, ऐसे मैथुन आदि रहते हैं ये क्षणिक हैं, अर्थात् स्वल्पकाल ठहरने वाले हैं, निस्पार हैं, ऐसे मैथुन आदि

की अभिलाषा रूप जो ये कामसुख हैं इनके विपाक फल अन्त में दुःखदायी ही हैं। ये सेवन करते समय अशुभ ही हैं। अर्थात् इनके सेवनकाल में भी सुख नहीं है, प्रत्युत वह सुख की कल्पना मात्र है। इसीलिए सब अशुभ ही हैं।

आहार अशुभ—

असुद्विलिविले गध्भे वसमाणो वत्थपडलपच्छणो ।

मादूइसिभ लालाइयं तु तिव्वासुहं पिबदि ॥725॥

अशुभि से व्याप्त गर्भ में रहता हुआ यह जीव जरायुपटल से ढका हुआ है। वहाँ पर माता के कफ और लार से युक्त अतीव अशुभ को पीता है।

मल, मूत्र, कफ, पित्त, रुधिर आदि से वीभत्स-ग्लानियुक्त ऐसे माता के उदर में तिष्ठता हुआ यह जीव वहाँ पर जरायुपटल से आवृत द्वीरु रहा है। वहाँ पर माता के द्वारा खाये गये भोजन से बने कफ, लार आदि से सहित अत्यन्त दुर्गम्भित रस पीता रहता है। यह जीव का मूल आहार ऐसा है तो किर आहार से कैसे सुख होगा? इसीलिये आहार भी अशुभ रूप ही है; ऐसा समझना।

शरीर अशुभ—

मंसट्ठिसिभवसरुहिरचम्पित्तं तमुत्तकुणिपकुर्दि ।

बहुदुखरोगभायण शरीरमसुभं वियाणाहि ॥726॥

मांस, अस्थि, कफ, वसा, रुधिर, चर्म, पित्त, आंत, मूत्र इन अपवित्र पदार्थों की झोपड़ी रूप बहुत प्रकार के दुःख और रोगों के स्थानस्वरूप इस शरीर को अशुभ ही जानो।

यह शरीर मांस, हड्डी, कफ, पित्त, मेद, रक्त, चमड़ा, आंत, मूत्र और मल इन अशुभ पदार्थों का घर है। तीव्र दुःखकर रोगों का स्थान है। ऐसा यह शरीर तुम अशुभ अपवित्र जानो।

अशुभ अनुप्रेक्षा का फल—

अर्थं कामसरीरादियं पि सद्वसमुभति णादूण ।

णिविजजंते ज्ञायसु जह जहसि कलेवरं असुइ ॥727॥

अर्थ, काम और शरीर आदि ये सभी अशुभ हैं, ऐसा जानकर विरक्त होते हुए जैसे अशुभि शरीर द्वारा जाय वैसा ही ध्यान करो।

स्त्री, वस्त्र आदि, काम-मैथुन आदि और शरीर आदि ये सभी अशुभ हैं। ऐसा इस लोक में जानकर उनमें निर्वेद को प्राप्त होते हुए ध्यान करो। अर्थात् जिस प्रकार से यह कुत्सित शरीर छोड़ सकते हो, उसी प्रकार से शरीर के वैराग्य का और संसार के वैराग्य का अच्छी तरह से चित्तवन करो।

विश्व में शुभाशुभ—

मोक्षण जिणवखावं धम्मं सुहामिह दु णत्थ लोगम्मि ।

ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चितेज्जो ॥728॥

जिनेन्द्र देव द्वारा कथित धर्म को छोड़कर, सुर-असुर, तिर्यच नरक और मनुष्यों से सहित इस जगत में कुछ भी शुभ नहीं है।

सुर-असुरों से सहित तथा तिर्यच, नारकी और मनुष्यों से संयुक्त इस संसार में जिनेन्द्र देव के धर्म को छोड़कर और कुछ भी शुभ रूप नहीं है, ऐसा समझो। यह अशुभ अनुप्रेक्षा हुई।
(मूलाचार)

निसर्गमलिनं निन्द्यमनेकाशुचिसंभृतम् ॥

शुकादिबीजसंभृतं घृणास्पदमिदं वपुः ॥106॥ ज्ञानार्णव पृ० 58

इस भावना के चिन्तन में प्राणी विचार करता है कि यह शरीर स्वभाव से मलिन-मूत्रादि-मल धृणित द्रव्यों से परिपूर्ण निन्दनीय, उनके अपवित्र (रस, रुधिर आदि) वस्तुओं से परिपूर्ण तथा रज व वीर्य आदिरूप बीज से उत्पन्न हुआ है। इसीलिये वह घृणा का स्थान है—वह अनुराग के योग्य नहीं है।

असूर्गमांसवसापूर्णं शीर्णकीकसपञ्जरम् ।

शिरानद्वं च दुर्गन्धं च शरीरं-प्रशस्यते ॥107॥

जो शरीर रुधिर, माँस और चर्वी से व्याप्त है, जीर्ण हड्डियों का ढाँचा है, नसों से बँधा हुआ है, तथा निरन्तर दुर्गन्ध को फैलाता है उस शरीर की प्रशंसा कहाँ पर की जा सकती है? नहीं की जा सकती है।

प्रसवन्नवभिर्द्वारः पूतिगन्धान्निरन्तरम् ।

क्षणक्षयि पराधीनं शश्वन्नरकलेवरम् ॥108॥

यह मनुष्यों का शरीर नौ द्वारों से—(1) जननेन्द्रीय, (2) गुदा, (3-4) दो कान, (5-6) दो आँखें, (7-8) दो नासिका के छिद्र और (9) मुख से निरन्तर दुर्गन्ध युक्त मलों को बहाने वाला धरण में विनाश स्वभाव वाला (नश्वर) और पराधीन है—भोजन व पानी आदि के अधीन है।

कृमिजालशताकीर्णं रोगप्रचयपीडिते ।

जराजर्जर्तिरे काये कीदृशी महतां रतिः ॥109॥

सैकड़ों क्षुद्र कीड़ों के समूह से व्याप्त, प्रचुर रोगों से पीड़ित और जरा के द्वारा जीर्ण-शीर्ण किये जाने वाले उस शरीर में महापुरुषों को किस प्रकार से प्रति हो सकती है? नहीं हो सकती नीच व अविवेकी जन ही उसके विषय में अनुराग किया करते हैं, न कि विवेकीजन।

यद्यद्वस्तु शरीरे ऽत्र साधुबुद्ध्या विचार्यते ।

तत्त्वसर्वं घृणां दत्ते दुर्गन्धाभेष्यमन्दिरे ॥110॥

दुर्गन्ध एवं अपवित्र मल-मूत्रादि के स्थानस्वरूप पुरीषालय के समान इस शरीर में जो-जो वस्तुएँ हैं उनके विषय में यदि विवेक बुद्धि से विचार किया जाये तो वे सब ही घृणा को उत्पन्न करने वाले हैं।

यदीदं शोष्यते दैवाच्छशरीरं सागराम्बुद्धिः ।
दूषयत्यपि तान्येव शोष्यमानमपि क्षणे ॥111॥

यदि इस शरीर को दैववश समुद्र के जल से भी शुद्ध किया जाये तो वह शुद्ध करते समय ही क्षण भर में उस जल को भी मलिन कर देने वाला है। अभिप्राय यह है कि इस शरीर को स्नानादि के द्वारा शुद्ध करने का कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाये, किन्तु वह उनसे शुद्ध होने वाला नहीं है—इसके विपरीत वह अपने सम्पर्क से उन जल चन्दनादि के लेपन एवं सुगन्धित पुष्पादि को ही मलिन कर देने वाला है।

कलेवरमिदं न स्याद्यदि चर्मादिगुणितम् ।
मक्षिकाकृमिकाकेभ्यः स्यात्त्रातुं कस्तदा प्रभुः ॥112॥

यह शरीर यदि चमड़े से आच्छादित न होता तो मक्खी, लट और कौओं से भला उसकी रक्षा कौन कर सकता था? अभिप्रायः यह है कि वह शरीर भीतर में रुधिर, माँस, चर्बी एवं मल-मूत्रादि धृणित वस्तुओं से भरा हुआ है। परन्तु ऊपर चमड़े से आच्छादित होने के कारण ये धृणित वस्तुएँ इष्टिगोचर नहीं होतीं। यदि वे सब बाहू में इष्टिगोचर होतीं तो फिर उसकी मक्खियों आदि से रक्षा करना भी सम्भव नहीं था।

सर्वदैव रुजाकान्तं सर्वदैवाशुचेण्हम् ।
सर्वदैव पतत्प्रायं देहिनां देहपञ्जरम् ॥113॥

सदा ही रोगों से धिरा रहने वाला उस शरीर का ढाँचा सदा ही अपवित्र वस्तुओं से परिपूर्ण होता हुआ निरन्तर विनाश के सम्मुख रहता है।

तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः ।
विरज्य जन्मनः स्वार्थं यैः शरीरं कर्वितम् ॥114॥

जिन पुण्यशाली प्राणियों ने संसार से विरक्त होकर अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये निराकुल मोक्ष सुख को प्राप्त करने के लिये उस शरीर को संयम और तप के द्वारा तृप्त किया है उन्हीं ने वास्तव में इस मनुष्य शरीर के फल को प्राप्त किया है।

शरीरमेतदादाय त्वया दुःखं विषहृते ।
जन्मन्यस्मिन्नतस्तद्वि निःशेषानर्थमन्दिरम् ॥115॥

हे प्राणी! तू इस शरीर को ग्रहण करके ही इस संसार में दुःख को सह रहा है। अतएव उसे ही तू समस्त अनर्थों का घर समझ।

भवोद्भवानि दुःखानि यानि यान्यत्र देहिभिः ।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चर्वंपुरादाय केवलम् ॥116॥

प्राणी संसार में परिघ्रमण करते हुए उससे उत्पन्न जिन-जिन दुःखों को यहाँ
पहते हैं तब महान् दुःखों को वे केवल उस शरीर को ग्रहण करने के कारण ही सहा-
करते हैं।

कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृगमद्हरिचन्दनादिवस्तूनि ।

वध्यान्यपि संसर्गन्मिलनयति कलेवरं नृणाम् ॥117॥

वह मनुष्यों का शरीर अपनी संगति से कपूर, केसर, अङ्गूर, कस्तूरी और
हरिचन्दन आदि उत्तम वस्तुओं को भी मिलन किया करता है। अधिप्रायः यह है
कि जब वह शरीर इतना धृणित है कि अपने संयोग से कपूर आदि उत्तम वस्तुओं
को भी मिलन कर देता है तब विदेशी जीवों को उसमें अनुरक्त न होकर उसमें सिद्ध
करने योग्य अपने प्रयोजन को सिद्ध कर लेना चाहिए।

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानां ।

कुथितकुणिपगन्धैः पूरितं सूढ गाढम् ।

यमवदननिष्ठणं रोगभोगीन्द्रगेहं ।

कथमिह मनुजानां प्रतीये स्याच्छरीरम् ॥118॥

जो यह मनुष्य का शरीर चमड़े के समूह से ढका हुआ, हड्डियों का ढाँचा,
सड़े-गले मृत शरीर (मुर्दा) के समान दुर्गन्ध से अतिशय परिपूर्ण यम के मुख में बैठा
हुआ नाशोन्मुख और रोगरूप भयानक सर्वों का स्थान है वह यहाँ मनुष्यों की प्रीति
का कारण कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता—वह सर्वथा ही अनुराग के योग्य
नहीं है।

—ज्ञानावर्ण

सर्व अशुचि की देह गेह सर्व अशुचि का यंत्र
भ्रुक्त वस्तु मल होय है स्पर्श वस्तु असार ॥

(कनकनन्दी मुनि महाराजकृत)

पवित्रता ही शक्ति है

“स्वामी के गिरि शिखर पर कौन चढ़ेगा? उसके पवित्र मन्दिर में किसे
स्थान मिलेगा? वही जिसके हाथ स्वच्छ हैं और मन पवित्र है।” —साम्प्त

“क्या आप नहीं जानते हैं कि आपका शरीर पवित्रात्मा का मन्दिर है?
अपने शरीर को प्रभु के चरणों में पवित्र जीवित उपहार के रूप में प्रस्तुत करो, यही
उचित सत्कार है।”

—सेन्ट पॉल

“निष्कलंक मन को सरलता से प्रभावित नहीं किया जा सकता।”

—शेक्सपीयर

“सुपावन आत्मा की तेजोमयी छवि के सामने बाहरी लीपापोती कोई महत्व
नहीं रखती।”

—५० हृष्ट

संसदीय चुनाव दिवस पर किसी स्कॉच संसद सदस्य का भाषण हो रहा था
कि भीड़ में से एक दरिद्र सा व्यक्ति चिल्ला उठा, “यदि इस बार आप निर्वाचित हो

गए तो किस वस्तु पर से कर उठा लोगे?” भाषणकर्ता ने राखपुते प्रश्नकर्ता के
हाथों और चेहरे पर दृष्टि जमाते हुए उत्तर दिया, “वन्धु, मैं साबुन पर से कर
उठाऊँगा।”

एक शाम की बात है कि सैनिक शिविर में अफसर लोग बातें कर रहे थे।
तभी लड़खड़ाता हुआ एक अफसर आया और बोला, “मैं एक मनोरंजक घटना
सुनाना चाहता हूँ; कहीं कोई महिला तो यहाँ नहीं बैठी?” जनरल ग्राण्ट की दृष्टि
समाचारपत्र से उठकर उस व्यक्ति पर आ जमी और उसे घूरते हुए जनरल बोले,
“महिला तो यहाँ कोई नहीं है, किन्तु सम्यजन अवश्य बैठे हैं।”

जनरल ग्राण्ट के सदाचरण की प्रशंसा में जॉर्ज डब्ल्यू० चाइल्डस ने लिखा
है, “मैंने उनके मुख से कभी ऐसा वाक्य नहीं सुना जो महिलाओं की विद्यमानता में
न कहा जा सके। यदि कोई व्यक्ति उनके पास नौकरी के लिए आता था और
जनरल को पता लग जाता कि वह दुश्चारी या दुरचरित्र है, तो उसे कदापि नौकरी
में नहीं लेते थे।” लेखक ने ऐसी ही एक घटना का वर्णन किया है कि एक बार
शिष्टजनों में आप्तिजनक शब्दों का लेन-देन आरम्भ हुआ तो जनरल महोदय ने
क्षमा-याचना के साथ वहाँ से चले जाने में औचित्य समझा।

पुरुष की विशेषता इसी में है कि होंठ पवित्र रहें; मन पावन रहे। नारी
की महत्ता इसी में है कि अद्यती पवित्र भावनाओं से ओत-प्रोत रहे; विचारों में भी
बुरी बात न सोचे।

सर आइजक न्यूटन के युवाकाल में इटली का एक रसायन विशेषज्ञ उनका
गहरा मित्र बन गया; किन्तु उसने एक बार जो गन्दी सी कहानी सुनाई तो न्यूटन
ने हमेशा के लिए उससे नाता तोड़ लिया।

सद्विचारों को उच्च मानवता का अलंकार समझकर सदैव सुरक्षित रखो।
जैसे मनुष्यों के विचार होते हैं, वैसा ही उसका आकार बनता है। कड़वे विषेले
विचारों से आत्मा भी दूषित हो उठती है।

जॉन बी० गफ फिलाडेलिक्या ने मृत्यु से पूर्व अन्तिम शब्द यहीं कहे,
“युवकों! अपना कर्मक्षेत्र स्वच्छ रखो।” ये शब्द उनके सम्पूर्ण जीवन की
भाषणमाला के निचोड़ थे।

मन पवित्र नहीं होगा तो विचार भी अपवित्र होंगे; तब न बातचीत
पवित्र रहेगी और न जीवन। किसी भी मनुष्य के लिए लोगों के विचार इन शब्दों
में उत्तरने चाहिए, “अमुक व्यक्ति को मैं इसलिए पसन्द करता हूँ कि वह कुन्दन
की भाँति खरा है और दर्पण की भाँति साफ है।”

तरहों में एक वन्धु ने कहा है, “यदि कोई व्यक्ति यह समझे कि एकाकी
होने पर ही पवित्रता स्थिर रह सकती है, तो मैं इसका प्रबल विरोधी हूँ। हमें

पृथग्यत्वम् ऐसे जीवन की आवश्यकता है जो संसार में निष्कलंक रह सके। गदले भीचड़ में भी कमल की भाँति खिल उठना सच्चा मानवीय गुण है।

सागर में गल्फ धारा का प्रवाह दरिया की भाँति रहता है। जब जहाज इस पर से गुजरते हैं तो उनका अग्रभाग गर्म और पृष्ठ भाग ठण्डी धारा में होते हैं। ऐसी भाँति दुर्गुणों कुव्यसनों के सागर में पवित्रता की धारा उन्हीं में बहकर भी अपना गुण धर्म नहीं छोड़ती।

जब उपराष्ट्रपति विल्सन मृत्यु शैया पर थे तो उन्होंने कहा, "यदि मुझे किसी एक के कहने पर सोचने कहने या सुनने का अवसर मिले तो मैं विहृत्यर का नाम लूंगा, जो विश्व भर में पवित्रतम् विचारों का धनी और निष्कलंक आत्मा का स्वामी है।"

पादरी व्हाइटफील्ड से किसी व्यक्ति ने पूछा कि आप इतनी बार स्नान क्यों करते हैं और इतने स्वच्छवस्त्र क्यों रखते हैं? उत्तर में उन्होंने कहा, "स्नान और स्वच्छता से अभिप्राय निर्मल जीवनयापन से है, फिर वस्त्र भी क्यों न उजले हों?"

जैसे आप अपराधों से बचते हैं, वैसे ही कुविचारों से बचिये! गन्दे विचारों को पास ही न फटकने दें ताकि अस्पृश्य भावना छूत का रोग न बनने पाए। गन्दे चिंतों और गन्दी पुस्तकों से अत्युत्तम जीवन विनष्ट होते पाए गए हैं।

कुविचारों भरी गाथा मन में आजीवन ध्वनित होती रहती है। ऐसी एक भी कहानी कानों तक न पहुँचने दे, अन्यथा उसकी छाप इतनी गहरी पड़ेगी कि छुटाए न छूटेगी। मन की पर्ती पर उतरे हुए गन्दे चिंतों की छाप पूरी तरह विनष्ट करने वाला अभी कोई रसायन नहीं निकला। अतः गन्दे विचारों की छाया तक से दूर भागना श्रेयस्कर है।

डेनमार्क के साम्राजी केरोलीन मेटिल्डा ने अपने बन्दी जीवन के क्षणों में पूजा घर की खिड़की के पट पर लिखा था, "प्रभो! मुझे गुनाहों से अबोध रखना! मुझे उनकी कोई आवश्यकता नहीं; इन्हें औरों को भी मत दे देना।" प्रत्येक मनुष्य की ऐसी ही कामना होनी चाहिए।

जूड़ास दृक्ष पर पत्तों से पहले फूल निकलते हैं और इनकी सुन्दर चमक दमक से खिचकर असंख्य कीट पतंग आते हैं और फूलों का विषेला रस चूसते हैं। दृक्ष के नीचे अनगिनत लाशें इस बात की याद दिलाती पड़ी रहती हैं कि विषेले विचार सुननों के मिथ्याकर्षण में मृत्यु ही मिलेगी।

ईरान के दरिया लार के निकट एक पहाड़ी है जिसमें दो गहरे हैं जो एक दूसरे से तनिक हटकर हैं। उस पहाड़ी का नाम 'जीतानी की पहाड़ी है' वहाँ से प्रतिपल गम्भीर गर्जना सुनाई देती रहती है। जो धरती की गहराई से आती

प्रतीत होती है। आज तक उन गहरों में झाँकते वा प्रयास नहीं हो सका, क्योंकि उनमें से प्राणघाती गैस उफनती रहती है। निकटवर्ती क्षेत्र में सदैव बीस तीस मृत पक्षी पड़े ही रहते हैं। यहाँ तक कि रीछ भी प्राण खो बैठते हैं।

सामाजिक क्षेत्र में भी ऐसी-2 गहराइयाँ और गहर हैं कि जहाँ से विनाश की विषेली गैस निकलकर मानव जाति का प्राणान्त करती रहती हैं।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि शारीरिक अपराध का दण्ड भी साथ ही साथ मिलता है। बहुत सी आकृतियाँ अपने गुप्त ज्ञापराधों के कारण ग्लानिमय बनी रहती हैं; बहुत सी आँखें हैं जिनका आलोक क्षीण हो जाता है। पवित्रता के विनाश के साथ ही व्यक्ति अपनी सत्ता का सीन्दर्य खो देता है।

एपीक्यूरस का कथन है कि जो व्यक्ति सदाचारी नहीं है, वह कभी प्रसन्न नहीं रह सकता।

संसार में कोई भी वैभव इतना मूल्यवान नहीं जितना वैचारिक पवित्रता का वैभव। पुरुष हो या नारी, सभी को शारीरिक एवं आत्मिक पवित्रता का सम्मान करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति रोग से भरे शरीर के साथ लिपटा रहेगा तो वह भी ज्वर प्रभाव से सुरक्षित नहीं रह पाएगा; इसी प्रकार गन्दे विचारों में लिप्त रहने से मानसिक विकार आ जाना स्वाभाविक तथ्य है।

पीटर लिली एक महान् चिकित्सक था। वह कभी-किसी निकृष्ट कोटि के चित्र को झाँकता भी नहीं था कि कहीं उसका प्रभाव उसकी तूलिका पर न आ पड़े। बुराई का धब्बा ऐसा होता है कि लेडी मैकवेथ के हाथ पर लगे मानवीय हत्या के लहू के दाग की भाँति धोए नहीं चुलता।

युवकों के लिए सबसे बड़ा आदर्श यही है कि मन से पवित्र बनें। जो लोग बुराई को भी एक अनिवार्यता मानते हैं उनसे सदैव स्वयं को बचाइये।

मिल्टन का कहना है कि बुराई और शक्ति में कोई साम्यता नहीं। शक्ति केवल अचार्यी में है; उसी में स्वास्थ्य है और उसी से इडता।

एच० आर० स्टोरर ने कहा है, "बच्चों को पवित्रता की शिक्षा देना आवश्यक है। निःसन्देह इससे बच्चों में बड़े हीने तक विचारों का एक सुनिश्चित ढरा बन जाता है, क्योंकि तेरह से उन्नीस आयु के बीच की अवधि ऐसी है कि साथियों के विचारों से उसे निष्प्रभावित रख पाना लगभग असम्भव ही होता है।

माता पिता विषेले पौधों से असावधान रह जाते हैं जो अज्ञानता में बढ़ते और फलते-फूलते रहते हैं। यह अपेक्षा अन्ततः भयानक परिणामों का कारण बनती है।

अपवित्र विचारों से बचे रहने का एक ही उपाय है—निरन्तर कर्मशील रहना। ऊंचे विचार रखना पावन जीवन के लिए अत्यन्त अनिवार्य है। हम बड़ी

सरलता से भूल जाते हैं कि जीवन में सदाचरण का कितना महत्त्व है। पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य स्वयं अपनी इष्ट में ऊपर उठ जाता है। जब उसे यह जात हो जाता है कि जीवन का स्रोत ईश्वर है और भावी की आशाएँ उसके जीवन यापन से मम्रद्ध हैं तो वह क्षणिक वासानामों की सरलता से बलि दे देता है।

एक बार की घटना है कि कई चरवाहों ने एक चट्ठान पर से एक बाज उड़ते देखा जोकि पंख मारता आकाश को छूने लगा। धीरे-धीरे उड़ान शिथिल पड़ने लगी और वह डगमगाने लगा। पहले उसकी एक भुजा गिरी, फिर दूसरी और तब वह स्वयं धरती पर आ गिरा। चरवाहा लपका और क्या देखता है कि उड़ान से पहले एक साँप उससे आ लिपटा था। बाज को ज्ञान न हुआ और साँप उसके पंखों में घुसता चला गया। उड़ान के दौरान साँप बाज को काटता रहा और अन्त में उसे ले डूबा।

निर्धन, कलंकित और भग्नसाहस्राला व्यक्ति कष्ट पीड़ित होकर यही पुकारता चिल्लाता है, 'ऐ मेरे ईश्वर ! मेरे भीतर पवित्र मन भर दे और सदात्मा का संचरण कर।'

सहस्रों लोग ऐसे हैं जो अपवित्रता से मुक्ति के बदले दाएँ हाथ कटवाने को तैयार हैं।

यदि तस्णों को ज्ञात हो जाए कि उनके कुविचारों का परिणाम कितना भयानक है तो वे उससे घृणा करने लग जाएँ। कुमार्ग पर पग धरने से न केवल उसी व्यक्ति को अपितु भावी सन्तान को भी उसका फल भोगना पड़ता है। सदा अच्छे लोगों से सम्पर्क रखिये। उन्हें अपना साथी मत बनाइये जिनका ध्येय उच्च नहीं या जो सत्कर्मों का उपहास उड़ाते हैं। मित्रता के लिए उन्हें चुनिये, जो कुछ बनना चाहते हैं और कुछ कर गुजरने की कामना रखते हैं। ऐसे मित्र मत बनाइये जिन्हें आप अपनी माँ, बहन से परिचित नहीं करा सकते।

फिलाडेलिफ्या के एक अधिकारी ने एक बार कहा था, "यदि निकृष्ट कोटि के नाटक और अन्य पुस्तकें देश निर्वासित कर दी जाएँ तो साल भर में ही बन्दी खानों से दो तिहाई तस्णों को मुक्ति मिल जाएगी।"

किसी ब्रिटिश अधिकारी ने भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि में कहा था फौजदारी में जो नवयुवक दण्ड भागी माने जाते हैं, उसका मूल कारण मात्र गन्दा साहित्य है। बहुत से लोग इसे सभ्यता का चिन्ह मानते हैं कि ऐसे लेखकों की पुस्तकें पढ़े जिनसे रक्तपात और धातक विष टपकता हो। बुरी बातें लच्छेदार शब्दों में कहना कई लोगों के लिए सभ्यता और शिष्टाचार का परिचायक है, हालांकि इसके भयानक प्रभाव को वे खुद नहीं समझते।

जो लोग बुराई को कोमल शब्दों में प्रस्तुत करते हैं और कुरुपता को सुन्दर रंगों में रंगते हैं, वे पवित्रता में डंक भरकर अबोध मानवों को पथभ्रष्ट करने के दण्डभागी हैं। जो किसी की भड़की हुई भूख को मसालेदार भड़काऊ खुराक से बुझाता है, वह इतना अपराधी नहीं है जितना कि वह व्यक्ति जो भूख को अधिक भड़काने के लिए अपने कथ्य में अनुचित तत्वों का समावेश करता है।

मित्रों ! पवित्रता जाती रही तो वह किसी ढंग से हाथ न आएगी। सारंगी टूट जाए तो उसकी मरम्मत हो सकती है, दीपक बुझ जाए तो वह फिर जलाया जा सकता है, किन्तु फूल ही मसल डाला जाए तो कोई हुनर वह सुगन्ध उन पत्तियों में दुबारा नहीं भर सकता।

"नेकी को मन में सजाओ। वही एक मुक्त धारा है। इसी के सहारे मानव को ऊँचे गगन पर पहुँचना है। नेकी अशक्त भी होगी तो स्वर्ग झुककर उसे अंक में भर लेगा।"

मिल्टन
उन्नति कैसे करे ?
स्वेट माइन

1. अपने विचारों का द्रोही न बन, अपने प्रति ईमानदार रह और विचारों पर अमल कर, तू जरूर कामयाब होगा। सच्चे और सरल हृदय से प्रार्थना कर, तेरी प्रार्थनाएँ जरूर सुनी जायेंगी। —सन्त ज्ञानेश्वर
2. जो व्यक्ति ऊँचे विचारों की सुखद संगति में रहते हैं वे कभी अकेले नहीं रहते। —फिलिप सिडनी
3. यदि आप इस प्रतीक्षा में रहें कि दूसरे लोग आकर आपको सहायता देंगे तो हमेशा प्रतीक्षा ही करते रहेंगे। —जार्ज बर्नार्ड शा
4. यदि आप किसी से वादा करते हैं तो अपने ऊपर एक कर्ज चढ़ा लेते हैं। —टालमड
5. जो यही सोच-सोच कर डरता है कि कहीं हार न जायें, वह निश्चित रूप से हारेगा। —नेपोलियन
6. छटांक भर वैज्ञानिक विचार मन भर अज्ञान पूर्ण उत्साह से बढ़कर है। —हेवड

अध्याय

8

आस्त्रावानुप्रेक्षा

यहाँ पर अनुप्रेक्षाओं में केवल वैराग्य प्रकट करने के लिए ही आस्त्र ग्रहण किया गया है। संसार में कर्मों के जितने आस्त्र हैं वे सब इस लोक और परलोक दोनों जगह इस जीव के स्वाभाविक गुणों का नाश करने वाले हैं। ये इन्द्रियाँ आदि किसी महानदी की तीक्ष्ण जाने वाली धारा के समान हैं। देखो ! अत्यन्त घने और सीधे ऐसे साल, आम, बांस और कुड़ंग के पेड़ों का तोड़ना, स्वच्छ सरोवर के जल में अवगाहन करना, मुलायम और जिसका स्पर्श सुख देने वाला है, ऐसी पृथ्वी पर विहार करना आदि अनेक गुणों से सुशोभित वन में विहार करने वाले मदांध, महाकाय (जिनका बहुत बड़ा शरीर है) और बहुत बलवान हाथी कृत्रिम हथिनी में स्पर्शनेन्द्रिय के सुख के लिये आसक्तचित्त होकर मनुष्यों के वश हो जाता है और फिर मारना, बाँधना, दमन करना, सवारी करना, अंकुशों से ताड़ना और पैर की एड़ी से मारना आदि अनेक कारणों से उत्पन्न हुए अनेक तीव्र दुःखों का अनुभव करते हैं। वह प्रतिदिन अपने समूह में स्वतंत्रता पूर्वक विहार करने वाले वनवास के सुख का स्मरण करते हैं और बार-बार उसका स्मरण कर अत्यन्त दुःखी होते हैं। इसी तरह जित्वा इन्द्रिय के विषय के लोभ से किसी नदी के प्रवाह के वेग में पड़े हुए मरे हाथी के शरीर पर बैठे हुए कौवे अपार महासागर में पहुँच जाते हैं और वहाँ पर अनेक तरह के दुःख उठाते हैं। इसी प्रकार अगाध जल में रहने वाली और नेत्रों के द्वारा दिखायी न देने वाली मछलियाँ भी केवल रसना इन्द्रियों के वश होकर माँस के लोभ से लोहे की कील का आस्तादन कर मर जाती हैं। ध्राण इन्द्रिय के लोलुपी सर्प औषधि मिली हुई सुंगधि के लोभ में आकर मरने की इच्छा करते हैं। भ्रमर भी हाथी के मद की सुर्गंध के लोभ में फड़कर हाथी के इधर-उधर चलाये हुए कानों की चोट खाकर मर जाते हैं। चक्षु इन्द्रिय के विषय के वशभूत हुए पतंगे दीपक को देखकर चंचल हो जाते हैं और उसमें पड़कर जल जाते हैं या मर जाते हैं। जिनका मन श्रोत इन्द्रिय के विषय में (मधुर राग) में आसक्त हो गया है, ऐसे हिरण भी गीतों की मधुर छवि के राग में खड़े होकर हरी धास का खाना भी भूल जाते हैं और फिर वहेनियों के द्वारा मारे जाते हैं। ये सब दुःख तो इस लोक में ही भोगने पड़ते हैं तथा इनके सिवाय परलोक में भी अनेक तरह के दुःखों से भरी हुई बहुत सी योनियों

में उन्हें परिभ्रमण करना पड़ता है। (यह तो तिर्यञ्चों का उदाहरण बतलाया, मनुष्यों में भी अनेक बड़े पुरुष ऐसे हुए हैं जिन्हें एक-एक इंद्रिय की आसक्ति से अनेक तरह के दुःख भोगने पड़े हैं) अश्वश्रीव विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा था और तीन खण्ड का स्वामी था परन्तु उसका चित्त स्वयं प्रभा के अंगस्पर्श से उत्पन्न हुए सुख और स्पर्श के लाभ होने के लोभ में फँस गया था, इसलिये उसे पुत्र भाइयों सहित मरना पड़ा था। राजा सुभूम सकल चक्रवर्ती राजा था और छः खण्डों का स्वामी था तथापि रसना इंद्रिय और ध्राण इंद्रिय का लोलुपी होने से उसे बीच समुद्र में जाकर वैश्य के भेष को धारण करने वाले जन्मांतर के बैरी के हाथ से मर जाना पड़ा। इसी तरह अद्वेचकवर्ती दमितारि भीलनी का नृत्य देखने में आसक्त होकर अपने सब कुटुम्बियों समेत मरण को प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार यशोधर महाराज की अमृतमति नाम की महादेवी हाथीवान (महावत) के मधुर गीतों के शब्द सुनने में आसक्त होकर अपने कुल से भ्रष्ट हो गयी थी। उसका शरीर सब कोढ़ से भर गया था और मरकर उसे नरक के अनेक दुःख सहने पड़े थे। इसी प्रकार के महापुरुष लोग भी विष के समान केवल एक-एक इन्द्रिय विषयों से नष्ट हो गये थे फिर पाँचों इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा करने वालों की तो बात ही क्या है ? इस प्रकार आस्त्र के दोषों का चिन्तन करना आस्त्रानुप्रेक्षा है। इस तरह चिन्तन करने से क्षमादि धर्म ही कल्याणकारी जान पड़ते हैं और फिर उनसे अपनी बुद्धि कभी नहीं हटती। ये आस्त्र के सब दोष कच्छप के समान इंद्रियों का निरोध करने वालों के होते हैं।

कर्मस्त्रिव : सर्वदुःख स्रोत

दुःखभयमणपदरे संसारमहणवे परमधोरे ।

जंतु जं तुणिमज्जदि कम्मासवहेद्यं सव्वं ॥729॥ (मूल 11)

दुःख और भयरूपी प्रचुर मत्स्यों से युक्त, अतीव धोर संसार रूपी समुद्र में जीव जो डूब रहा है, वह कर्मस्त्रिव का निमित्त है।

आस्त्र के द्वारा—

रागो दोसो मोहो इंदियसणा य गारवकसाया ।

मणवयणकायसहिवा दु आस्त्रा होति कम्मस्स ॥730॥

राग, द्वेष, मोह, इन्द्रियाँ, संज्ञायें, गौरव और कषाय तथा मन, वचन काय से कर्म के आस्त्र होते हैं।

आस्त्रद्वारा : रागद्वेष मोह—

रंजेदि असुहकुणपेरागो दोसो वि दूसदीणिच्चं ।

मोहो वि महारिवु जं णियदं मोहेदि सद्भावं ॥

राग अशुभ-कृतिसत में अनुरक्त करता है। द्रेष भी नित्य ही अप्रीति करता है। मोह भी महाशनु है जो कि निश्चित रूप से सत् पदार्थ मूढ़ कर देता है।

धिद्धि मोहस्स सदा जेण हिवस्थेण मोहिदोसंतो ।
ण विदुज्जदि जिणवयणं हिवसिवसुह कारणं मग्नं ॥732॥

उस मोह को धिकार हो। धिकार हो! कि जिसके हृदय में स्थित मोह के द्वारा मोहित होता हुआ यह जीव हित रूप शिव सुख का हेतु मोक्षमार्ग रूप ऐसे जिनवचन को नहीं समझता है।

जिणवय सद्हाणो वि तिव्यवसुहा दिपावयं कुणई ।
अभिभूदो जेहं सदा धित्तेऽसि रागदोसाणं ॥733॥

जिनके द्वारा पीड़ित हुआ जीव जिनवचन का श्रद्धान करते हुए भी तीव्र अशुभगति कारक पाप करता है, उन राग द्रेष को सदा धिकार हो।

इन्द्रियविषय : आस्त्रव द्वार—

अग्निहृदमणसा एवे इन्द्रियविसया जिमेण्हदुः दुक्खं ।
मन्तोसहिणेण व दुष्टा आसीविसा सप्ता ॥734॥

चंचल मन से इन इन्द्रियों के विषयों का निग्रह करना कठिन है जैसा कि मन्त्र और औवधि के बिना दुष्ट आशीर्विष जाति वाले सर्पों को वश में करना कठिन है।

धित्तेसिंमिदियाणं जेसि वसेदोदु पावमज्जणिय ।
पावदि पावविवागं दुक्खमंतं भवगदिसु ॥735॥

उन इन्द्रियों को धिकार हो कि, जिनके वश से पाप का अर्जन करके यह जीव चारों गतियों में पाप के फलस्वरूप अनन्त दुःख को प्राप्त होता है।

संज्ञा गौरव : आस्त्रव कारण—

सण्णाहि गारवेहिं अ गुरुओ गुरुं तु पावमज्जाणिय ।
तो कम्मभारगुरुओ गुरुं दुक्खं समणुभवइ ॥736॥

संज्ञा और गौरव से भारी होकर तीव्र पाप का अर्जन करके उससे कर्म के भार से गुरु होकर महान् दुःखों का अनुभव करता है।

कषाय आस्त्रव—

कोधो माणो माया लोभो य दुरासया कसायरिक ।
दोस सहस्रावासा दुक्ख सहस्रागि पावंति ॥737॥

क्रोध, मान, माया और लोभ ये दुष्ट आश्रयरूप कषाय शब्द हजारों दोषों के स्थान हैं, ये हजारों दुःखों को प्राप्त करते हैं।

पंच पाप : आस्त्रव मुख्य—

हिसादिएहि पंचाहि आस्त्रवदारेहि आस्त्रवि पावं ।
तेहितु धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे ॥738॥

हिसा आदि आस्त्रव द्वार से पाप का आना होता है। उनसे निश्चित ही विनाश होता है। जैसे जन के आस्त्रव से रहित नौका समुद्र में डूब जाती है।

अष्टकमर्मस्त्रव दुःख—

एवं बहुप्यारं कर्मं आसवदि दुटठमट्ठविहं ।

णाणावरणादीयं दुक्खविवागं ति चितेज्जो ॥739॥ (मूला०)

इस तरह बहुत प्रकार का कर्म दुष्ट है, जो कि ज्ञानावरण आदि से यह आठ प्रकार का है तथा दुःखरूप फल बाला है, ऐसा चिंतवन करें।

मनस्तनुवचः कर्मयोग इत्यभिधीयते ।

स एवास्त्रवः इत्थुक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदः ॥119॥ (ज्ञानाणंव)

मन, शरीर और वचन की क्रिया को योग कहा जाता है। इस योग को ही तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण आचार्य उमास्त्रामी आदि ने आस्त्रव कहा है।

वाधेन्द्रन्तः समादत्ते यानपात्रं यथा जलम् ।

छिद्रेजीवस्तथा कर्म योगरन्द्रैः शुभाशुमेः ॥120॥

जिस प्रकार नाव या जहाज छेदों के द्वारा जल को भीतर ग्रहण करती है, उसी प्रकार जीव शुभ और अशुभ योगलृप छेदों के द्वारा कर्म को ग्रहण किया करता है।

यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्ततावलम्बितम् ।

त्र्यमेत्यादिभावन रूढः मनः सूते शुभास्त्रम् ॥121॥

संयम, कषायों का उपशमन, संसार शरीर एवं भोगों से विरक्ति और तत्त्व का चिन्तन इन सबके आश्रित होकर मैत्री व प्रमोद आदि भावनाओं में संलग्न हुआ मन शुभ आस्त्रव को उत्पन्न करता है, पुण्य कर्म के आगमन का कारण होता है।

विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम् ।

शुभास्त्रवाय विज्ञेयं वचः सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥123॥

जो वचन सत्य का आश्रय लेकर समस्त व्यपार से रहित होता हुआ श्रुतज्ञान का आलम्बन ले लेता है, आगम के पठन-पाठन में निरत होता है, उसे पुण्यकर्म के आगम का कारण समझना चाहिये।

सुगृप्तेन स्वकायेन कायोत्सर्गेण वानिशम् ।

संचिनोति शुभं कर्म काययोगेन संयमी ॥125॥

संयमी जीव भली-भैंसि संरक्षितदुष्ट प्रवर्तन से रोके गये—अपने शरीर के द्वारा अथवा ध्यान में स्थिर किए गये काययोग के द्वारा निरन्तर पुण्यकर्म को संचित किया करता है।

कायादहनोतिदीप्तं विषयैव्यकुलीकृतम् ।

संचिनोति मनः कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम् ॥122॥

इसके विपरीत कपायरूप अग्नि से सन्तप्त होकर विषयों के द्वारा व्याकुल किया गया मन संसार के सम्बन्ध सूक्ष्म संसार परिग्रहण के कारणभूत पाप कर्म को संवित किया करता है।

अपवादास्पदीभूतमसन्मार्गोपदेशकम् ।

पापस्त्रवाय विज्ञेयमसत्यं पुरुषं वचः ॥124॥ (ज्ञा०)

निन्दा के स्थानभूत (निन्द्य) कुमार्ग का उपदेश करने वाले, असत्य, कठोर (गुणमें कटु) वचन को पाप कर्म के आगमन का कारण समझना चाहिए।

सततारम्भायोगेऽच व्यापारैजन्मनुधातके ।

शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम् ॥126॥

प्राणियों का शरीर निरन्तर आरम्भ से सम्बद्ध और प्राणियों का संहार करने वाले व्यापारियों के द्वारा अपनी दुष्ट प्रवृत्तियों से पापकर्मों का संयोग करता है।

कथायाः कोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्च विषयाः ।

प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ॥

दूरन्ते दुष्यन्ते विरति विरहश्चेति नियतं ।

लक्ष्यन्तयेते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम् ॥127॥

क्रोधादि कथायोंकाम के मित्रस्वरूप पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय, पन्द्रह प्रमाद, मिथ्यात्व, मन, वचन व काय रूप तीन योग, दुनिवार, दो दुष्यन्ति (आतं, रौद्र) और व्रत का अभाव(अविरति) इनके द्वारा प्राणियों के नियम से संसार में भय को उत्तरान करने वाले कर्मसमूह का आगमन हुआ करता है।

पानी के प्रवेशते नाव जैसे ढूबे अथाह सागरे ।

कर्म के संयोगे जीव नाव ढूबे अपार संसारे ॥ (उपा० कनकनंदी)

अध्याय

9

संवर-अनुप्रेक्षा

आस्त्रव का रोकना ही संवर है। जिस प्रकार कोई वैश्य महासागर में चलते हुए जहाज के छिद्रों को या पानी जाने के मार्ग को बन्द कर फिर निविधि रीति से देशान्तर पहुँचता है उसी प्रकार मुनिराज भी संसार रूपी महासागर में पड़े हुए शरीर रूपी जहाज के कर्मरूपी जल के आने के कारण ऐसे इन्द्रियों के विषय रूपी द्वार, तपश्चरण के द्वारा बन्द कर निविधि रीति से मोक्षरूपी महानगर में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार संवर के गुणों का वित्वन करना संवरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चित्वन करने से संवर में सदा सावधानी और तत्परता रहती है।

सर्वात्मिकनिरोधो यः संवरः स प्रकीर्तिः ।

द्रव्यभावविभेदेन स द्विधा भिद्यते पुनः ॥128॥

उपर्युक्त आस्त्रों का जो निरोध हो जाता है उसे संवर कहा गया है वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है।

यः कर्मपुद्गलादानविच्छेदः स्यात्पस्त्विनः ।

स द्रव्यसंवरः प्रोक्तो ध्यान निर्धूतकल्पवेः ॥129॥

तपस्वी मुनि के जो नवीन कर्म पुद्गलों के ग्रहण का अभाव हो जाता है, इसे ध्यान के द्वारा उस कर्म कालिमा को धो डालने वाले गणधरादिकों के द्वारा द्रव्य-संवर कहलाता है।

या संसारनिमित्तस्य क्रियाया विरतिः स्फुटम् ।

स भावसंवरस्तज्जन्मविज्ञेयः परमागमात् ॥130॥

जिस मिथ्यात्वादिरूप क्रिया के द्वारा संसार के कारणभूत कर्म का ग्रहण होता है। उस क्रिया से विरत होने का नाम भाव संवर है, यह उस संवर के जानकारों के परमागम से जानना चाहिये।

असंयमभयैर्बाणैः संबृतात्मा न भिद्यते ।

यमी यथा सुसनद्वो वीरः समरसंकटे ॥131॥

जिस प्रकार अपने को कवच से बेघिट करके अस्त्र शस्त्रादि से सुसज्जित वीर युद्ध में बाणों के द्वारा भेदा नहीं जाता है धायल नहीं किया जाता है उसी प्रकार संवर से युक्त होकर गुण्ठि एवं समिति आदि से सुसज्जित संयमी पुरुष इस संसार में असंयम रूप बाणों से नहीं भेदा जाता है। वह असंयम के निमित्त से आने वाले कर्मों से लिप्त नहीं होता है।

संवरोधाय

क्षमा क्रोधस्य मानस्य मादंवं त्वार्जवं पुनः ।

मायायाः संगसंन्यासो लोभस्यैते द्विषः क्रमात् ॥133॥ ज्ञानार्णव

क्षमा, मादंव, आर्जव और संगसंन्यास-ममत्व का परित्याग ये क्रम से क्रोध, मान, माया और लोभ के शतु हैं उनके रोधक हैं ।

रागद्वेषी समत्वेन निर्ममत्वेन वानिशम् ।

मिथ्यात्वं हठियोगेन निराकुर्बन्ति योगिनः ॥134॥

योगी जन निरन्तर राग और द्वेष को समताभाव व निर्ममत्व (ममता का परित्याग) से तथा मिथ्यात्व को सम्यग्दर्शन के योग से नष्ट किया करते हैं ।

अविद्याप्रसरोभूतं तमस्तत्त्वावरोधकम् ।

ज्ञानसूर्यशुभिर्बद्धं स्फेटयन्त्यात्मदर्शिनः ॥135॥

आत्मस्वरूप का अवलोकन करने वाले योगी अज्ञानता के विस्तार से उत्पन्न होकर वस्तु स्वरूप को आच्छादित करने वाले अंधकार को मिथ्या ज्ञान को सम्यग्ज्ञान रूप सूर्य की किरणों के द्वारा अतिशय नष्ट किया करते हैं ।

असंयमगरोद्गारं सत्यसंयमसुधाम्बुधिः ।

निराकरोति निःशङ्कः संयमी संवरोद्यतः ॥136॥

संवर में उद्यत साधु असंयम रूप विष के विस्तार का समीचीन संयम रूप अमृत जल के द्वारा निर्भयतापूर्वक निराकरण करते हैं ।

द्वारपालीव यस्योच्चर्विचारचतुरा मतिः ।

हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥137॥

हिताहित के विचार में अतिशय दक्ष बुद्धि जिसके अन्तःकरण के भीतर द्वार रक्षिका के समान प्रकाशमान है, उसके पाप की उत्पत्ति स्वप्न में भी संभव नहीं है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार द्वार पर स्थित पहरेदार किसी ऐसे वैसे जन को भवन के भीतर नहीं प्रविष्ट होने देता है, उसी प्रकार साधु की विवेक बुद्धि नवीन कर्म को प्रविष्ट नहीं होने देती है—उसके आस्त्र को रोकती है ।

आस्त्र के निरोध का नाम संवर है । जैसा कि पीछे इलोक 128 में निर्दिष्ट किया गया है : क्रोधादि कषाय इन्द्रियविषय (राग-द्वेष) और मिथ्यात्व आदि के द्वारा चूंकि कर्मों का आगमन होता है, अतएव ये सब आस्त्र माने जाते हैं । साधुजन उक्त क्रोधादि कषायों, राग-द्वेष और मिथ्यात्व आदि को उनके विपक्षभूत क्षमा, मादंव, आर्जव, परिग्रह, परित्याग, निर्ममता और सम्यग्दर्शन आदि के द्वारा नष्ट करके उनके निमित्त से आने वाले नवीन कर्मों को रोक देते हैं । इसलिये वे संवर के स्वामी हो जाते हैं ।

विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।

यदाधत्ते तदेव स्यान्मुनेः परमसंवरः ॥138॥

जिस समय मुनि का मन समस्त कल्पनाओं के समूह को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है उसी समय मुनि के उत्कृष्ट संवर होता है ।

सकलसमितिमूलः संयमोद्वामकाण्डः ॥

प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्णः ।

अविकलबन्धैवन्धुरो भावनाभिः ।

जयति जितविपक्षः संवरोदारवृक्षः ॥139॥

समस्त समितियों के रूप जड़ों में स्थित संयमरूप प्रचण्ड स्कन्ध से सहित, कषायों की शांतिरूप बहुन-सी शाखाओं से सुशोभित, उत्तम क्षमादि धर्मरूप पुष्पों से व्याप्त और परिपूर्ण फलों के सम्बन्ध के समान अनित्यादि भावनाओं से मनोहर ऐसा यह संवररूप विशाल वृक्ष कर्म शत्रु पर विजय प्राप्त करता हुआ जयवंत रहे ।

(ज्ञानार्णवः)

तम्भा कम्मासवकारणाणि सञ्चाणि ताणि रुधेज्जो ।

इन्द्रियकसायसणागारवरागादि आदीणि ॥740॥ मूलाचार

अतः जो कर्म के आने के कारण हैं उन सबका निवारण करना चाहिये वे इन्द्रिय, कषाय, संज्ञा, गौरव और राग द्वेष आदि हैं अर्थात् इन्हीं कारणों से आत्मा में कर्मों का आना है । अतः इन सबका विरोध करना चाहिये । इनके रुक जाने पर जो होता सी बताते हैं—

रुद्धेमु कसायेमु अ मूलादो होति आसवारुद्धा ।

दुष्मतस्मिह णिरुद्धे वण्मिम णावा जह ण एदि ॥741॥

कषायों के रुक जाने पर जड़ मूल से सभी आस्त्र रुक जाते हैं जैसे स्रोत के जल को रोक देने पर या जल आने के छिद्र को बन्द कर देने पर नौका में जल नहीं आता है अथवा नारियल आदि के त्वक् (रससी) आदि से बंधी हुई नौका में यद्यपि पानी आने के द्वारा होने पर भी वह तीर को प्राप्त करा देती है । अथवा वह विनिष्ट नहीं होती है अर्थात् कषायों के रुकने पर आस्त्र रुक जाते हैं जैसे पानी के आने के द्वारा सहित नाव है फिर भी पानी के रोक देने पर उस नाव में सभी तरह से पानी रुक जाता है तब वह नाव मनुष्य को उसके इष्ट स्थान पर पहुँचा देती है अथवा उसकी इष्ट वस्तु नष्ट नहीं होती है जल में नहीं ढूबती है । इस तरह कषायों के रुक जाने पर मूल से सभी आस्त्र रुक जाते हैं यद्यपि योग आदि के द्वारा जीव क्षीण मोह और सयोग केवली आस्त्र सहित है फिर भी वे अपने रत्नवृत्त को मोक्षनगर में ले जाते हैं यह अभिप्राय है । इन्द्रिय संवर का स्वरूप कहते हैं ।

इन्द्रियकसायदोसा णिरुद्धपंति तवणाणाविणएर्हि ।

रज्जूहिविधिप्पंति हु उप्पहगामी जह तुरया ॥742॥

इन्द्रियों का तप से निग्रह होता है क्षयाये ज्ञान भावना से वश में की जाती है और विनयक्रिया से द्रेष प्रलय को प्राप्त हो जाता है जैसा कि उन्मार्ग में चलने वाले घोड़े निश्चित ही चर्ममयी रस्सी (चाबुक) से वशीभूत विये जाते हैं।

मणवयणायगुर्नितदियस्स समिदीसु अप्यमत्तस्स ।
आसवदारणिरोहे णवकम्मरथ्यासबो ण हवे ॥743॥

जिन्होंने मन बचन और काय से अपनी इन्द्रियों को गुप्त अर्थात् वश में कर लिया है जो ईर्या भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उच्चार प्रस्ववण नामक पाँच समितियों में प्रमाद से रहित सावधान हैं ऐसे अप्रमत्त चारित्र-धारी साधु के जिन द्वारों से कर्मस्व होता है उनका विरोध हो जाने पर उनके नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता है।

पुनरपि संक्षेप से, आख्य और संवर कहते हैं ।

मिच्छताविरदीहि य कसायजोर्गेहि च जं आसवदि ।
दंसणविरमणिग्रहणिरोधर्णेहि तु णासवादि ॥744॥

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इनसे आत्मा में जो कर्म आते हैं वे क्रमशः सम्यग्दर्शन, विरति, इन्द्रिय निग्रह और योगनिरोध इन कारणों से नहीं आते हैं; रुक जाते हैं। इस तरह कर्मों का आना आख्य और कर्मों का रुकना संवर इन दोनों का वर्णन अब संवर-अनुप्रेक्षा को संक्षिप्त करते हुए और उसका फल बतलाते हुए कहते हैं।

संवरफल

संवरफलं सुणिव्याणमेति संवर समाधि संजुतो ।
णिच्छुज्जुतो भावय संवर इण्मो विसुद्धप्या ॥745॥

संवर का फल निर्वाण है इसीलिये संवर, समाधि से युक्त नित्य ही उद्यमशील, विशुद्ध आत्मा मुनि इस संवर की भावना करें।

पानी के निरोधे यथा नाव में प्रवेश नहीं करे पानी ।
आख्य द्वारों को निरोध जब जीव संवरभाव है भणि ॥

—कनकनन्दी मुनि महाराज कृत

“भावना और विचार से सफलता कैसे मिलती है ?”

अपने ‘मैं’ को स्थापित करने की है जिसमें हिम्मत, साहस ।

करें प्रतीक्षा शांत भाव से,

भाग्य आयेगा भगा चाव से,

उसकी सब इच्छाएँ पूरी करने को हो उत्सुक बेबस । —हेलन विलियम्स महान शक्तिशाली व्यक्ति भी अपनी कुर्सी से हिल नहीं सकेगा, यदि उसे सम्मोहित कर दिया जाय । सम्मोहन के हटने पर ही वह हिल सकेगा । यदि किसी

कमजोर स्त्री को किसी की जिन्दगी जरूर बचानी हो तो वह आग या बाढ़ में से अपने से भारी व्यक्ति को भी कन्धे पर उठाकर निकाल लायेगी । इन परिस्थितियों में परिणाम का फैलता मानसिक इष्टिकोण पर निर्भर करता है, शारीरिक शक्ति पर नहीं, जब कि दोनों काम ही मांस-पेशियों द्वारा किये जाते हैं । जीवन के अधिकांश काम तथा सफलताएँ अधिकांशतः या पूर्णतः मानसिक कार्यों से विनिर्मित हैं । अगर हम इस तथ्य पर ध्यान दें तो हमें विचारों और मानसिक इष्टिकोण का महत्व स्पष्ट रूप से समझ में आ जायेगा । लड़ाई के मैदानों में, व्यापार में या नैतिक संघर्षों में जिन्होंने विजय प्राप्त की है वह सब मानसिक भावना व इष्टिकोण के द्वारा प्राप्त की गयी है । यह भावना कार्य करते हुए उनके क्षण-क्षण में और कण-कण में व्याप्त रहती है ।

मैं अपनी पूरी शक्ति से नवयुवकों के मन पर यह लौह लेखनी से अंकित कर देना चाहता हूँ : (भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे वह शक्ति और अभिव्यक्ति दे) सफलता प्राप्त करने में ठीक ढंग से सोचने का अत्यधिक महत्व है । ठीक ढंग से सोचने की शक्ति की महिमा वर्णनातीत है । नौजवानों ! उठो और इस प्रत्यक्ष सत्य का साक्षात्कार करो । तुम अमृतपुत्र हो, तुम्हारे अन्दर महान् कार्य करने की सहज शक्ति का अक्षय स्रोत है । इस तथ्य को भली-भाँति समझ लो कि तुम्हारा जन्म सफलता के लिए हुआ है । यही प्रकृति की योजना है । असफल होकर तुम अपनी सृष्टि की योजना को बिगाड़ देते हो—यह महापाप है, अपनी सृष्टि के प्रति विश्वासधात है, उसका अपमान है, उसके प्रेम का तिरस्कार है । यदि तुम यह तत्त्व समझ लोगे तो तुम्हारे जीवन में क्रान्ति हो जायेगी और तुम्हारे अधिकांश दुःख और कष्ट नष्ट हो जायेंगे ।

हमारी लक्ष्य प्राप्त करने की शक्ति क्यों कम हो जाती है ?

जो व्यक्ति यह समझते हैं कि हमारी शक्तियाँ सीमित हैं, जिनके मन में यह जम गया है कि हम अपनी परिस्थितियों से घिरे हुए हैं, उनसे निकल ही नहीं सकते, हम उनके शिकार हैं, वे ही दुःखी हैं । उनके ऐसा सोचने से ही उनकी लक्ष्य प्राप्त करने की शक्ति को कम कर दिया है; विचारों को क्रियारूप में परिणत करने की उनकी योग्यता को नष्ट कर दिया है । इससे उन्हें अकथनीय दुःख असफलताओं का सामना करना पड़ता है, गरीबी में जिन्दगी काटनी पड़ती है । हाय री बदकिस्मती ! यह सोचकर आश्चर्य और करुणा से दिल भर आता है कि बदकिस्मती खुद निमन्त्रण देकर बुलाई गयी है । अपने को दुर्बल समझने की भावना अवास्तविक है; यह मन की बीमारी है, इसके नतीजे बुरे होते हैं । मनुष्य सम्राट् बनने के लिए पैदा हुआ है । यह प्रभुत्व तो उसका जन्मसिद्ध अधिकार है । उसने इस अधिकार का खुद परित्याग करके दुर्बलता और सीमा का वरण कर लिया है । वह समृद्धि, प्रसन्नता और स्वतन्त्रता को खुद छोड़ बैठा है और गरीबी, बदकिस्मती और गुलामी का

दावा करने लगा है। कोई भी मनुष्य तब तक अपनी बदकिस्मती से कैसे निकल सकता है जब तक वह यह न विचारे, यह न विश्वास करे कि वह निकल सकता है? क्या ऐसा भी कोई विज्ञान या उपाय है जिसकी सहायता से कोई मनुष्य कार्य कर सके, जबकि वह सोचता है कि मैं नहीं कर सकता? क्या कोई ऐसा तरीका भी है कि मनुष्य ऊपर भी न देखे और ऊपर उठ भी जाए? क्या कोई ऐसा मार्ग भी है कि कोई मनुष्य प्रतिक्षण असफलता के विषय में ही सोचता रहे, बोलता रहे, उसी में साँस लेता रहे और सफल हो जाए? कोई मनुष्य एक ही समय में दो विरुद्ध दिशाओं में नहीं जा सकता। जहाँ संदेह रहता है वहाँ निश्चय नहीं रहता। जब तक तुम अपने शब्दकोष से “भाग्य” “नहीं कर सकता”, “संदेह” शब्द नहीं किया जा सकता। यदि दुनिया में गुस्सा के योग्य कुछ है तो वह है ऐसा मनुष्य जिसने हार मान ली है, जो काम छोड़कर बैठ गया है, जो कहता है, “मैं नहीं कर सकता,” “इसका लाभ नहीं है”, “दुनिया मेरे विरुद्ध है”, “मेरी किस्मत मेरा साथ नहीं दे रही है”। अपने मन में निरन्तर यह विचार बैठाये रखना कि तुम नीचे हो, कि तुम उठ नहीं सकते, कि सफलता दूसरों के लिये है पर तुम्हारे लिए नहीं है, अपने-आपको ऐसे विचार के अनुकूल बनाना है और किसी भी दूसरी दशा के आगमन को असम्भव बनाना है। तुम सौभाग्यशाली कैसे हो जबकि तुम सदा दुर्भाग्य के बारे में बात करते रहते हो? जब तक तुम यह सोचते रहोगे कि तुम मिट्टी के दीन, दुःखी व दयनीय कीड़े हो, तुम वही रहोगे; तुम अपने विचार से ऊपर नहीं उठ सकते। तुम्हारे अपने विषय में जो धारणा है, तुम उससे भिन्न नहीं हो सकते। यदि तुम्हारा वास्तव में विश्वास है कि तुम प्रसन्नता-रहित, दुर्भाग्यग्रस्त तथा दुःखी व दयनीय हो तो तुम वैसे ही बन जाओगे। संसार में ऐसी कोई जड़ी-बूटियाँ नहीं हैं, कोई पेटेण्ट दवाइयाँ या तरीके नहीं हैं जो तुम्हें इस हालत से निकाल दें। जब तक तुम्हारे विचार नहीं बदलेंगे तुम इसी हालत में रहोगे। विचारों में परिवर्तन शरीर की दशाओं में परिवर्तन ले आयेगा। यह बात इतनी निश्चित है जितना कि सूर्य तथा वर्षा से गुलाब की कली के पटलों का खिल जाना। इसमें कोई गुप्त रहस्य नहीं है; यह शुद्ध रूप से वैज्ञानिक बात है।

अधिकांश व्यक्ति जो असफल होते हैं उसका कारण यह है कि जो कार्य वे अपने हाथ में लेते हैं, उसका प्रारम्भ ही वे अपने करने की योग्यता के विषय में संदेह से करते हैं। अपने किसी भी जीवनकार्य को शुरू करते हुए जिस क्षण किसी नौजवान ने अपने मन में संशय को घुसने दिया, समझो उसी क्षण उसने अपने नौजवान ने अपने मन में संशय को घुसा लिया—ऐसे गुप्तचर को, जो उससे दगाबाजी शिविर में एक दुश्मन को घुसा लिया—यदि हमने उसे कभी अपने घर में करेगा। संशय ‘असफल परिवार’ का मुखिया है। यदि हमने उसे कभी अपने घर में घुसने दिया, निकाला नहीं तो वह अपने परिवार के अन्य सदस्यों को भी ले आयेगा जिनमें से मुख्य हैं—‘श्री आराम से काम करो’, ‘श्री जब काम कठिन होने लगे तो छोड़ दो’; ‘श्री प्रतीक्षा करो’ तथा इस परिवार के अन्य अनेक सदस्य जब एक बार मन में घुस आते हैं तो वे अपने जैसी अन्य प्रवृत्तियों को खींच लाते हैं और मनुष्य की महत्वाकांक्षा पूर्णतः विनष्ट हो जाती है। तुम्हारी समृद्धि की चाह और सफलता

की तीव्र इच्छा, सब-कुछ व्यर्थ हो जायेगा जबकि तुम इन निट्लों, सदा मात्र खाने वालों, असफलों को लाकर जमा कर लोगे। वे तुम्हारी सारी ऊर्जा को खा जायेगे—सफलता को अपनी ओर खींचने की तुम्हारी शक्ति को नष्ट कर देगे। शीघ्र ही तुम्हारे मन में और तुम्हारी क्रियाओं में असफलता की वृद्धि होने लगेगी।

जिस क्षण तुमने दुर्बलता को आने दिया, पराजय को स्वीकार किया, तुम खत्म हो गये, कहीं के न रहे। ऐसे आदमी के लिए कोई आशा नहीं है जिसने अपना जीवन खो दिया है, जिसने संघर्ष करना छोड़ दिया है। ऐसे आदमी का कुछ नहीं किया जा सकता। यदि दुनिया में गुस्सा के योग्य कुछ है तो वह है ऐसा मनुष्य जिसने हार मान ली है, जो काम छोड़कर बैठ गया है, जो कहता है, “मैं नहीं कर सकता,” “इसका लाभ नहीं है”, “दुनिया मेरे विरुद्ध है”, “मेरी किस्मत मेरा साथ नहीं दे रही है”। अपने मन में निरन्तर यह विचार बैठाये रखना कि तुम नीचे हो, कि तुम उठ नहीं सकते, कि सफलता दूसरों के लिये है पर तुम्हारे लिए नहीं है, अपने-आपको ऐसे विचार के अनुकूल बनाना है और किसी भी दूसरी दशा के आगमन को असम्भव बनाना है। तुम सौभाग्यशाली कैसे हो जबकि तुम सदा दुर्भाग्य के बारे में बात करते रहते हो? जब तक तुम यह सोचते रहोगे कि तुम मिट्टी के दीन, दुःखी व दयनीय कीड़े हो, तुम वही रहोगे; तुम अपने विचार से ऊपर नहीं उठ सकते। तुम्हारे अपने विषय में जो धारणा है, तुम उससे भिन्न नहीं हो सकते। यदि तुम्हारा वास्तव में विश्वास है कि तुम प्रसन्नता-रहित, दुर्भाग्यग्रस्त तथा दुःखी व दयनीय हो तो तुम वैसे ही बन जाओगे। संसार में ऐसी कोई जड़ी-बूटियाँ नहीं हैं, कोई पेटेण्ट दवाइयाँ या तरीके नहीं हैं जो तुम्हें इस हालत से निकाल दें। जब तक तुम्हारे विचार नहीं बदलेंगे तुम इसी हालत में रहोगे। विचारों में परिवर्तन शरीर की दशाओं में परिवर्तन ले आयेगा। यह बात इतनी निश्चित है जितना कि सूर्य तथा वर्षा से गुलाब की कली के पटलों का खिल जाना। इसमें कोई गुप्त रहस्य नहीं है; यह शुद्ध रूप से वैज्ञानिक बात है।

जो लोग महान् कार्य करते हैं उनकी संकल्प-शक्ति, योगात्मक-चिन्तना शक्तिशाली होती है। उनके अन्दर प्रबल योगात्मक योग्यता होती है; ऋणात्मक (निषेधात्मक) का वे अर्थ ही नहीं जानते। उनकी आस्था और कार्य करने की अपनी योग्यता के विषय में विश्वास इतना दृढ़ होता है कि इसके विरुद्ध कोई बात उनके पास फटकती ही नहीं। जब किसी काम को करने का वे पक्का निश्चय कर लेते हैं तो यह बात तो उनके लिए स्वयंसिद्ध होती है कि वे उसे कर सकते हैं। उनके मन में कभी संशय या भय नहीं उगता, भले ही लोग उनका मजाक उड़ाएँ या उन्हें पागल कहें। प्रायः ऐसे सभी बड़े पुरुषों और स्त्रियों को पागल कहा गया है जिन्होंने महान् उन्नति की है। दुनिया ने ऐसे लोगों के बारे में कहा कि ‘इनके सिर में चक्कर धूम रहा है।’ आज की सभ्यता ऐसे ही महान् लोगों के आशीर्वाद का फल है। उन

स्त्री-पुरुषों को अपने पर पूर्ण विश्वास था। उन्हें अपने उद्देश्यों में अडिग आस्था थी जिसे कोई भी और कुछ भी हिला नहीं सकता था। संसार के सब उन्नति और विकास के आनंदोलन के इतिहास उनके जीवन-चरित्रों में लिखित हैं।

इससे कोपरनिकस और गैलीलियों का मस्तिष्क विकृत और पागल करार दे दिया गया था, तब यदि वे अपने कार्य से हट जाते तो क्या होता? आज का विज्ञान उनके इस अडिग विश्वास पर निर्भित है कि भूमण्डल गोल है और पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूम रही है, न कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर। उस स्थिति की कल्पना करो कि यदि कोलम्बस काम छोड़कर बैठ जाता और अपने पर विश्वास खो बैठता जबकि सारा यूरोप पागल कहकर उसका मजाक उड़ा रहा था। कल्पना करो साइरस डब्ल्यू० फील्ड बीच में काम छोड़कर बैठ जाता है। उसने समुद्र को नापने का कार्य अपने हाथ में ले लिया था। कोई एक दर्जन बार वह असफल हो चुका था और तार के बाद तार समुद्र के गर्भ में समा रही थी। कल्पना करो कि वह अपने रिप्रेटेदारों की बात मान लेता जो कहते थे कि वह अपना धन बरबाद कर रहा है और वह गरीबी में मरेगा। कल्पना करो फूल्टन काम छोड़कर बैठ जाता जबकि उसका मजाक उड़ाने के लिए पुस्तक लिखी गयी थी, जिसमें यह सिद्ध किया गया था—कोई भी जहाज इतना कोयला लादकर नहीं ले जा सकता कि जो उसे सागर के पार पहुँचा दे। वह यह देखने के लिए जीवित रहा कि वही पुस्तक एक भाप से चलने वाले जहाज में समुद्र के पार पहुँचे। क्या होता यदि एलेर्जैंडर ग्राहम वेल अपने पर विश्वास खो बैठता जबकि द्वूरभाष (टेलीफोन) के सिद्धान्त पर परीक्षण करते हुए उसने अपना आखिरी डॉलर भी खर्च कर दिया था और सारी दुनिया उसे पागल कह रही थी।

जब स्वोनरोला ने एक गरीब अज्ञात पादरी के रूप में फ्लोरेन्स में प्रवेश किया तो उसने देखा कि सब ओर गरीबी और दुःख का राज्य है और इसका कारण है कि कुछ लोग अन्याय से यह कुछ हड्प कर लेते हैं और ऐश करते हैं। उसने उसी समय यह पक्का निश्चय कर लिया कि मैं दलित लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाऊँगा। उसको निरन्तर रिश्वतें देने की कोशिश की गयी, पर वह कभी भी धन के वशीभूत नहीं हुआ। उसने अपना लक्ष्य सदा अपनी इष्टि के सामने रखा। उसके समय 'लोरंजोद' मेडिसी अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। उस समय सांसारिकता से ग्रस्त एलेर्जैंडर षष्ठ पोप राज्य का अध्यक्ष था। उसकी सहानुभूति धनी व शक्तिशालियों के साथ थी। परन्तु इससे वह सुधारक हतोत्साहित नहीं हुआ और अकेले ही संघर्ष करता रहा। विघ्न बढ़े और असंख्य थे परन्तु उसे विश्वास था कि अन्त में न्याय की विजय होगी। आखिर में वह मेडिसी के निरंकुश अत्याचारी राज्य का तख्ता उलटने में सफल हो गया और ऐसे राज्य की स्थापना की जिसके अन्दर न्याय राज्य करेगा। यही उसका इष्ट था, उसके जीवन का सपना था, उसकी

आत्मा की पवित्र आवाज थी। स्वोनरोला पर धर्म ने अत्याचार किये। अत्याचार का प्रतिरोध करता हुआ वह शहीद हो गया। उसके आदर्श बहुत ऊँचे थे। उसने 'प्रोटेस्टेण्ट—सुधार' की स्थापना में जीवन लगा दिया।

जब वुल्फ (Wolfe) को संसद की एक समिति के सम्मुख बुलाया गया और कहा गया कि तुम्हें कनाडा जाने वाले ब्रिटिश शिष्टमंडल का नेता निर्वाचित किया गया है तो यह पूछे जाने पर कि क्या तुम युद्ध को खत्म कर सकते हो, उसने तलवार निकाल ली, कमरे में चारों तरफ धूमा, उसे मेज पर जोर से मारा तथा ऐसी मिथ्या शान और अभिमान का प्रदर्शन किया कि समिति के सब सदस्य जुगुप्सा से भर उठे। परन्तु जब नवयुवक वुल्फ अब्राहम मैदानों में अपनी फौज का नेतृत्व कर रहा था तो उसी आत्मविश्वास ने उसे मॉन्टकाम (Montcalm) के नेतृत्व में बढ़ती हुई फौजों के जीतने के योग्य बनाया।

नेपोलियन, विस्मार्क, ह्यूगो तथा अन्य कई महान् व्यक्तियों का अपने में इतना महान् विश्वास था कि लोग उनके विरुद्ध तक हो जाते थे, मजाक उड़ाते थे, परन्तु यह गुण किसी भी महान् कार्यसिद्धि के लिए अनिवार्य हैं। इसने इन मनुष्यों की सामान्य शक्ति को दुगुना, तिगुना, चौगुना कर दिया। अन्यथा किसी लूथर, किसी वेल्सले (Welsley), किसी स्वोनरोला की सहायता के रहस्य की क्या व्याख्या हो सकती है? इस दिव्य व उच्चकोटि के विश्वास के बिना, अपने उद्देश्य में आस्था के बिना, एक दुर्बल ग्रामीण कुमारी जौन द' आर्क (Jeanne D' Arc) कैसे एक कांसीसी सेना का नेतृत्व और नियन्त्रण कर सकती थी? इस शक्ति के बिना वह कैसे हजारों सबल मनुष्यों का नेतृत्व कर सकती थी कि मानो वे उसके बच्चे हों? इस दिव्य आत्मविश्वास ने उसकी शक्ति को हजार गुना कर दिया; यहाँ तक कि बादशाह भी उसकी आज्ञा का पालन करने लगा।

जब हमारे देश में गृहयुद्ध का खतरा पैदा हो गया, तब प्रत्यक्षतः अत्यन्त नम्र तथा दिखावा न करने वाले लिंकन ने कुछ राजनीतिज्ञों को कहा, "यदि आप मुझे राष्ट्रपति-पद के लिए नामजद कर दें तो मैं चुना जा सकता हूँ और सरकार को चला सकता हूँ।" उस व्यक्ति के आत्मविश्वास के विषय में सोचो! वह एक झोपड़ी में पैदा हुआ था और उसे शिक्षा और संस्कृति के लाभ प्राप्त नहीं मिले थे। ग्रांट के दिव्य आत्मविश्वास के विषय में सोचो! वह दो साल पहले एक अज्ञात व्यापारी था, उसे उसकी छोटी-सी बिरादरी से बाहर प्राप्त कोई नहीं जानता था। उसने लिंकन को कहा कि मैं गृहयुद्ध को समाप्त कर सकता हूँ। उसने वह समाप्त करके दिखाया। यद्यपि उसे इतनी सार्वजनिक निन्दा का पात्र बनना पड़ा जितनी कि किसी को भी अधिक से अधिक नहीं हुई होगी। आज संयुक्त राष्ट्र कहाँ होता यदि लिंकन और ग्रांट अपने में विश्वास खो बैठते जबकि सब अखबार उनकी ओर विपरीत आलोचना कर रहे थे।

ग्रांट पहले जो सेनापति बनाये गये थे उनमें अपनी योग्यता पर उसके जैसा विश्वास नहीं था। ग्रांट अपनी स्थिति का पूर्ण स्वामी था क्योंकि उसके आत्मविश्वास में प्रश्नचिन्ह नहीं लगा हुआ था। वह जानता था कि मैं शत्रु को जीत सकता हूँ, यदि मेरे पास केवल सेना और अवसर हों। दूसरे लोग कम-या-ज्यादा संशय में पड़े रहे। अतः उन्हें केवल आंशिक विजयों की प्राप्ति हुई।

यह उसका महान् आत्मविश्वास तथा एक न्यायसंगत लक्ष्य में आस्था थी कि मुठ्ठी भर आदियों को लेकर जैक्सन ने न्यू ऑर्लियन्स (New Orleans) में प्रशिक्षित ब्रिटिश सेना को भारी पराजय दी। यह ऐसा ही विश्वास था जिसने जनरल टेलर (Taylor) को इस योग्य बनाया कि बुएना विस्ता (Buena Vista) में सिर्फ 500 अमरीकी सैनिकों के साथ उसने सांता एन्ना (Santa Anna) को पराजित किया जिसके साथ 20,000 सैनिक थे।

विश्वासपूर्ण आस्था की शक्ति सृजनात्मक है जो पैदा करती है, निर्माण करती है तथा लक्ष्य की प्राप्ति कराती है। इसके विपरीत अविश्वास टुकड़े-टुकड़े करके फैके देता है, नष्ट कर देता है, विनष्ट कर देता है।

सन्देह और अनिश्चय के निराकरण के द्वारा शक्तिशाली आत्मविश्वास, आश्चर्यजनक रूप से एकाग्रता की शक्ति को बढ़ा देता है। क्योंकि इसमें विक्षेपक उद्देश्यों को दूर करने की शक्ति होती है। इसके द्वारा मनुष्य स्थिरता एवं दृढ़ता के मार्ग पर बढ़ जाता है। दाएँ या बाएँ किसी ओर भी खिचाव नहीं होता, न ही शक्ति विकीर्ण होती है।

खोजी, आविष्कारक, सुधारक, सेनापति, सबमें अजेय निश्चय की शक्ति तथा भावना होती है। इसके विपरीत यदि हम असफल व्यक्ति का विश्लेषण करें तो हमें पता चलेगा कि उनमें से अधिकांश में आत्मविश्वास अत्यन्त कम है; उनमें वह उफनता हुआ विश्वास है ही नहीं जो सफल व्यक्तियों का वैशिष्ट्य है। प्रकृति ने जिन्हें बड़े कामों के लिए भेजा है, हम नहीं जानते कि उनके हाथों में जो मुहर-बन्द आज्ञा दे रखी है वह क्या है? परन्तु इस तथ्य को इन्कार नहीं किया जा सकता कि यदि व्यक्ति में अपने में अपराजेय आत्मविश्वास है तो वह यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि उसमें वह कार्य करने की योग्यता है जिसे वह समझता है कि वह कर सकता है। प्रकृति हमारे साथ मजाक नहीं करती है कि वह हममें संभावनाओं के सत्य होने का विश्वास तो पैदा कर दे परन्तु कार्य की शक्ति न दे।

न तो अपने को और न किसी और को तुम यह अधिकार दो कि वह तुम्हारे अपने में आत्मविश्वास को विचलित कर सके, तुम्हारी आत्मनिर्भरता को नष्ट कर सके, क्योंकि यही गुण है जो कि महान् कार्य सिद्धियों की नींव है। जब तक ये गुण चलायमान हो जाते हैं तो सारा ढाँचा गिर जाता है। जब तक ये तुम में हैं तुम्हारे

लिए आशा है। आस्था अपने में असीम विश्वास, जो कि कभी-कभी वीरता के प्रदर्शन का रूप भी ले लेता है, सब बड़े कामों में पूर्णतया अनिवार्य है।

आत्मविश्वास के द्वारा कम शक्ति वाले व्यक्ति भी बड़े-बड़े काम कर लेते हैं क्योंकि यह भय, संदेह और अनिश्चय को जड़ से उखाड़ फेंकता है। ये भय आदि दोष कार्यसिद्धि के भयंकर शत्रु हैं। संशय व सन्देह की उपस्थिति में मन शक्ति व उत्साह के साथ काम नहीं कर सकता। मन यदि डगमगा रहा हो तो काम भी डगमगाने लगते हैं। निश्चय की उपस्थिति अनिवार्य है, अन्यथा कार्य में कुशलता व पूर्णता नहीं आएगी। जिसका अपने मन पर विश्वास है, जिसमें यह विश्वास है कि वह उस काम को कर सकता है, जिसे वह हाथ में लेता है ऐसा अज्ञानी व्यक्ति भी प्रायः कॉलिजों में प्रशिक्षित व्यक्तियों को मात दे जाता है। इन प्रशिक्षित व्यक्तियों की संस्कृति की अति और विशालता के हाइटकोण उन्हें ऐसा अनुभूतिप्रवण बना देते हैं कि वे आत्मविश्वास खो बैठते हैं। वे निरन्तर बैठे परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को तोलते रहते हैं। उससे इनकी निषर्द-शक्ति विल्कुल कमजोर हो जाती है और उनके पूर्वग्रह सदा निश्चित धारणाओं का रूप लेने की प्रवृत्ति रखते हैं।

महान् आत्मविश्वास व सबल सशक्त स्वाग्रह से युक्त अज्ञानी व्यक्ति में सूक्ष्म भावनाएँ भले ही न हों, परन्तु वह अपने से अधिक भावनाप्रवण सुसंस्कृत मन बाले व्यक्तियों के सूक्ष्म कष्टों से भी बचा रहता है। उसके मस्तिष्क की शक्तियों, सिद्धान्तों व मतों या इस ज्ञान से कि वह कितना नहीं जानता, दुर्बल नहीं हो गयी होती है। वह अत्यन्त साधारण भाव से वहाँ कूद पड़ता है जहाँ सुसंस्कृत व्यक्ति हिचकिचाता ही रह जाता है।

स्वतन्त्र शिक्षा का प्रायः यह दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम है कि इससे लोगों का आत्मविश्वास कमजोर पड़ जाता है और उनमें कायरता का विकास हो जाता है। ऐसे कई नवयुवकों को मैं जानता हूँ कि जिस दिन वे कॉलिज में प्रविष्ट हुए थे उनमें असीम आत्मविश्वास था; वे समझते थे कि हम सब कुछ कर सकते हैं; उनमें स्वाग्रह की प्रबल शक्तियाँ थीं; परन्तु जब वे स्नातक बनकर निकले तो ये गुण लगभग समाप्त हो चुके थे। इन गुणों का स्थान धीरे-धीरे कायरता व भीरुता ने ले लिया था और किसी भी बात को निश्चयपूर्वक कहने से वे कम्बी काटते थे। इन बातों से मनुष्य की कार्य करने की शक्ति घट जाती है।

यह प्रसिद्ध ही है कि बड़े-बड़े विद्वान् दुनिया से दूर रहने के स्वभाव वाले हो जाते हैं, बचते फिरते हैं; डरपोक स्वभाव वाले हो जाते हैं और कायर करने की शक्ति का तो प्रायः उनमें पूर्ण अभाव हो जाता है। उनका स्वाग्रह खत्म हो जाता है और उसका स्थान आत्महीनता ले लेती है। वे अपने को 'किसी भी काम का न

समझना' गुरु कर देते हैं। दिखावे से रहित विनम्रता, धैर्य और सहिष्णुता अत्यन्त इष्ट (चाहे जाने योग्य) गुण हैं यदि वे अपने ठीक स्थान पर हों; परन्तु ये ही महान् दुर्भाग्य का कारण बन जाते हैं जबकि ये सशक्त आत्मविश्वास तथा आक्रामक स्वाग्रह के अधीन न रहें। इन अच्छे लगने वाले गुणों के कारण विद्वान् मनुष्य को लोग मित्र बनाना तो बहुत पसन्द करते हैं परन्तु वह इनके कारण जीवन में कम क्रियाशील और कम सफल भी होता है। आक्रामक कार्य करने वाली शक्तियों को हर खतरा मोल लेकर सुरक्षित रखना चाहिए। अन्यथा, जीवन की सफलता दमित और सीमित हो जायेगी।

(अवसर को पहचानो ले. स्वेट मार्डन)

आज ऐसा जिओ, मानो यह आखिरी दिन हो। —पक्कर
 सौ वर्ष जीने के लिए अपने चारों ओर जवान और हँसमुख मित्रों का
 गिरोह रखो। —महात्मा गांधी
 उदार आदमी जब तक जीता है आनन्द से जीता है और तंग दिल जिंदगी
 भर दुखी रहता है। —कैमा बिन इलखतीम
 वे ही लोग जीते हैं जो निष्कलक जीवन व्यतीत करते हैं, और जिनका
 जीवन कीर्ति विहीन है, वास्तव में वे ही सुर्दे हैं। —तिरुबल्लवर
 धन का महत्त्व नहीं अपितु जीवन का है—प्रेम की समस्त शक्तियों से
 पूर्ण, प्रशंसना से और प्रशंसा से पूर्ण जीवन का। —रस्किन
 सन्तोष सब से बड़ा धन है, और सादगी से रहना सबसे अच्छा जीवन
 है। इश सब बातों को सदा ध्यान में रखें। —मुनि गणेश वर्णी
 दूसरों की कमाई पर जीना इन्सानों का काम नहीं है। —सन्त ज्ञानेश्वर
 जो आदमी केवल उम्मीद पर जीता है, उसे भूखा मरना पड़ता है। —चाणक्य
 जीओ और जीने दो। प्राणी-मात्र की आत्मा समान है। सब में परमात्मा
 बनने की शक्ति विद्यामान है। —भगवान महावीर
 अनादर पूर्वक जीने से बिल्कुल न जीना कहीं अच्छा है। —सोफोनीज
 इन्सानियत के उसूल लेकर जो जीते हैं, उन्होंने का जीना सच्चा जीना है। —सादी

अध्याय

10

निर्जरा—अनुप्रेक्षा

कर्मों का एक देश नष्ट होना निर्जरा है। वह भी उदय और उदीरणा के भेद से दो प्रकार की हैं। नरकादि गतियों में कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं उसको उदय से होने वाली निर्जरा कहते हैं और परिषहों के जीतने वा तपश्चरण आदि से जो कर्म बिना फल दिये हुए नष्ट हो जाते हैं वह उदीरणा से होने वाली निर्जरा कहलाती है। वह निर्जरा भी दो प्रकार की है, एक वह कि जिससे शुभ कर्मों का बन्ध हो और दूसरी वह जिससे किसी कर्म का बन्ध न हो। इस प्रकार निर्जरा के गुण-दोषों का चितवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इस अनुप्रेक्षा के चितवन करने से कर्मों की निर्जरा करने में प्रवृत्ति होती है।

यथा कर्मणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः ।

प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णवन्धनः ॥140॥

ज्ञानार्थ 9·69

जिसके द्वारा संसार के बीजभूत कर्म नष्ट किये जाते हैं उसे कर्म बन्ध से रहित हुए मुनियों ने निर्जरा कहा है।

सकामाकामभेदेन विकल्पद्वयमश्नुते ।

निर्जराकर्मजानेकनिगडच्छेदकारणम् ॥141॥

वह निर्जरा सकाम और अकाम के भेद से दो भेदों में विभक्त है। उनमें कर्मजा निर्जरा अनेक बन्धनों के नाश का कारण है।

पूर्वबद्ध कर्मों के क्रमशः आत्मा से पृथक् होने का नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है—सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा। इनमें जो कर्म अभी उदय को प्राप्त नहीं है, उनको तप के प्रभाव से उदयावली में प्रविष्ट कराके इच्छापूर्वक उनके फल को भोगना, यह सकाम निर्जरा कही जाती है। यह तपस्त्रियों को हुआ करती है। स्थिति के पूर्व होने पर जो कर्म अपना फल देकर निजीर्ण होते हैं, इसका नाम अकाम निर्जरा है। यह सब ही प्राणियों के हुआ करती है। इसमें चूंकि अनिच्छापूर्वक कर्म का फल भोगा जाता है, इसीलिए इसे अकाम निर्जरा कहा गया

है। उनमें सकाम निर्जरा को अविपाक निर्जरा व कर्मजा निर्जरा तथा अकाम निर्जरा को सविपाक निर्जरा व अकर्मजा निर्जरा भी कहा जाता है।

पाकः स्वयमुपायाच्च स्यात्फलानां तरोयंथा ।

तथात्र कर्मणां ज्ञेयः स्वयं सोपायलक्षणः ॥142॥

जिस प्रकार यहाँ वृक्ष के फलों का परिपाक स्वयं भी होता है और उपाय से कच्चे तोड़कर उन्हें पाल में देने से भी होता है। उसी प्रकार कर्मों का परिपाक भी स्वयं और उपाय स्वरूप-तप की शक्ति से होने वाला भी समझना चाहिये।

विशुद्धयति हुताशेन सदोषमपि कृच्छनम् ।

यद्वत्तथेव जीवोऽयं तप्यमानस्तपोऽग्निना ॥143॥

जैसे सदोष भी स्वर्ण (सोना) अग्नि में तपाने से विशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार कर्मरूपी दोषों सहित जीव तपस्वी अग्नि में तपने से विशुद्ध और निर्दोष (कर्मरहित) हो जाता है।

चमत्कारकरं धीरं बाह्यमाध्यात्मिकं तपः ।

तथ्यते जन्मसन्तानशङ्कृतेरार्थं सूर्यिभिः ॥144॥

संसार की परिपाटी में भयभीत, धीर श्रेष्ठ मुनीश्वर गण उक्त निर्जरा का एकमात्र कारण तप ही है, ऐसा जानकर बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का तप करते हैं।

तत्र बाह्यं तपः प्रोक्तमुपवासादिष्ठिद्विधम् ।

प्रायश्चित्तादिभिर्भवैराध्यात्मं च तद् विधम् ॥145॥

उनमें से अनशन, अवमोदय, वृत्तिपरिसंब्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छः तो बाह्य (बहिरंग) तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय वैयाकृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान ये छः आभ्यन्तर तप हैं। इनका विशेष स्वरूप जानना हो तो तत्वार्थ सूक्त की टीकाओं को देखना चाहिये।

निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा ।

यमी क्षपति कर्मणि दुर्जयानि तथा-तथा ॥146॥

संयमी मुनि वैराग्य पदवी को प्राप्त होकर जैसे-जैसे (ज्यों-ज्यों) तप करते हैं, तैसे-तैसे (त्यों त्यों) दुर्जय कर्मों को क्षय करते हैं।

ध्यानानलसमालीढ़मप्यनादिसमुद्भवम् ।

सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्धयत्यङ्गी स्वर्णवत् ॥147॥

अनादिकाल से संचित कर्म ध्यान रूप अग्नि के संयोग से शीघ्र ही क्षीण हो जाता है। इससे प्राणी स्वर्ण के समान निर्मल हो जाता है।

तपस्तावद्बाह्यं चरति सुकृती पुण्यचरित,

स्ततश्चात्माधीनं नियतविषयं ध्यानपरमम् ।

अपव्यन्तलौनं चिरतरचितं कर्मपटलं,
ततो ज्ञानाम्मोधि विशति परमानन्दनिलयम् ॥148॥

पवित्र आचरण वाला सुकृती पुरुष प्रथम अनशनादि बाह्य तपों का आचरण करता है, तपश्चात् आत्माधीन आभ्यन्तर तपों को आचरता है और उनमें भी नियत विषय वाले ध्याननामा उत्कृष्ट तप को आचरता है। इस तप से चिरकाल से संचित किये हुए कर्मरूपी पटल को (धातिया कर्मों को) क्षय करता है और पश्चात् परमानन्द के (अतीन्द्रिय सुख के) घर ज्ञान रूपी समुद्र में प्रवेश करता है।

सम्यग्विष्ट जीव दोनों प्रकार के तपों से विशेषतया ध्यान नामक उत्कृष्ट तप से धातिया कर्म को नष्ट करके केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय को प्राप्त होते हैं।
(ज्ञानार्णव)

रुद्धासवस्त्र एवं तवसा जुलस्स णिजजरा होदि ।

दुविहा य सा वि भणिया देसादो सध्वदो चेव ॥746॥

जिन मुनिराज ने कर्मगम का द्वारा बन्द कर दिया है और तपश्चरण से सहित है उनके कर्म को ज्ञाड़ने से रूप निर्जरा होती है। उस निर्जरा के दो भेद हैं—कर्मों की एक देश निर्जरा और सर्वकर्म निर्जरा।

“देश एवं सकल निर्जरा”

संसारे संसरंतस्स खओवसमगदस्स कम्मस्स ।

सब्बस्स वि होदि जगे तवसा पुण णिजजरा विजला ॥747॥

मूलाचार ॥

चतुर्गति के संसरण रूप ऐसे इस संसार में संसरण करते हुए जीव के क्षयोपशम को प्राप्त करते हुए कर्मों की जो निर्जरा होती है वह सभी संसारी जीवों को होती है वह देश निर्जरा है। तपरूपी अग्नि से भस्म किये हुए सभी कर्मों की जो निर्जरा होती है। वह सकल निर्जरा है। जिन कर्मों के कुछ अंश क्षय को प्राप्त हो चुके हैं, कुछ उपशम अवस्था को प्राप्त है, कुछ उदय में आ रहे हैं और कुछ सत्ता में स्थित है उसको क्षयोपशम कहते हैं।

“सकल निर्जरा का फल”

जह धाढ़ धम्मंतो सुज्जदि सो अग्निणा दु संतत्तो ।

तवसा तहा विसुज्जदि जीवो कम्मेर्ह कणयं व ॥748॥

जैसे स्वर्णपाषाण जब धमाया जाता है तब अग्नि से सन्तप्त होता हुआ किट्ट कलिमा रहित शुद्ध स्वर्ण हो जाता है।

“निर्जरा साधक का महात्म्य”

णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजभुजजलिदो ।
दहइ तबो भवबीयं तणकट्टादी जहा अग्गी ॥74॥

मतिज्ञान आदि महान् वायु से सहित शील समाधि और प्रज्जवलित-उद्वीप्त तपरूपी अग्नि, संसार के बीज-कारणों को भस्मसात कर देती है। व्रतों का रक्षण जिससे होता है वह शील है। एकाग्रचिन्ता निरोधरूप ध्यान को वरसमाधि कहते हैं। पंचनमस्कार के साथ प्राणियों पर दया करना और इन्द्रिय निग्रह करना संयम है। इनके तपरूपी अग्नि को उद्दीप्त किया जाता है और उसमें मति श्रुत आदि ज्ञानरूपी हवा की जाती है। अर्थात् सम्यक् ज्ञान और चारित्र से युक्त तप संसार के कारणों को नष्ट कर देता है।

चिरकालमजिदं पि य विहुणदि तवसा रथति णाऊण ।
दुविहे तवमिम णिच्चं भावेदव्यो हवदि अप्पा ॥75॥

अनन्त काल में संचित किया गया कर्म की तपश्चरण द्वारा नष्ट हो जाता है। ऐसा जानकर निरन्तर अन्तरंग और बहिरंग तपश्चरण में आत्मा को लगाना चाहिये।

णिजरियसव्वकम्मो जादिजरामरणबंधणविमुक्तो ।
पावदि सुखमण्ठं णिजरणं तं मणसि कुज्जा ॥75॥

तपश्चरण से समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाने पर जन्म, जरा और मरण के बन्धन से मुक्त होता हुआ इस जीव अतुल अनन्त सौख्य को प्राप्त कर लेता है। इसीलिये मन में निर्जरा भावना का चिन्तवन करो।

नाव से नाविक निकाले पानी है यथा हल्का हुये है नाव ।
तथा जीव भी निर्जरे कर्म को आत्मा का विशेष भाव ॥

(कनकनंदीकृत)

अध्याय

11

लोकानुप्रेक्षा

जो जीवादि समस्त पदार्थों का आधार है वह लोक कहलाता है। यह आकाश सब और से अनंतानंत है और अपने ही आधार हैं। आकाश का कोई अन्य आधार नहीं है। उसी आकाश के अत्यंत मध्यवर्ती प्रदेशों में यह लोक विराजमान है। यह लोक तनुवात, घनवात और घनोदधिवात से घिरा हुआ है अर्थात् लोक के चारों ओर घनोदधिवात हैं, उसके चारों ओर घनवात है, उसके चारों ओर तनुवात है और उसके चारों ओर आकाश है। उस लोकाकाश के मध्य में त्रसनाड़ी हैं, उसके मध्य भाग में यहाँ मेरु पर्वत है। मेरु पर्वत के नीचे नरकों के प्रस्तर हैं तथा मेरु के चारों ओर शुभमामों को धारण करने वाले दूनी 2 चौड़ाई वाले कंकण के आकार के (असंख्यात) द्वीप समुद्र हैं। मेरु के ऊपर स्वर्गों के पटल हैं स्वर्गं पटलों के ऊपर सिद्धक्षेत्र हैं। इस प्रकार इस लोक के अधोलोक तियंक् लोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन भेद हैं। यह समस्त लोक 14 राजू ऊँचा है। पूर्व पश्चिम की ओर नीचे सात राजू चौड़ा है। मध्यम एक राजू चौड़ा है। ऊपर जाकर फिर 5 राजू चौड़ा है और सबसे ऊपर जाकर एक राजू चौड़ा है। दक्षिण उत्तर की ओर सर्वं जगह सात राजू लंबा है। अधोलोक बैत के आसन के समान ऊपर से संकरी और नीचे से चौड़ी तिपाई के समान है। मध्यलोक ज्ञालर के समान है और ऊर्ध्वलोक मृदंग वा वेत्रासन के समान है। इसके सिवाय यह लोक छह द्रव्यों से भरा हुआ है। अकृतिम है और अनादि तथा अनिधन है। इस प्रकार लोक का स्वभाव लोक का परिमाण परिधि और आकार चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इसके मनन करने से तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है।

यत्र भावा विलोक्यन्ते ज्ञानिभिश्चेतनेतरा: ।

जीवादयः स लोकः स्यात्ततोऽलोको नभः स्मृतः ॥ ज्ञानावंण

(172) पृ० 78

जितने आकाश में जीवादिक चेतन-अचेतन पदार्थ ज्ञानी पुरुषों ने देखें हैं, सो तो लोक है। उसके बाहूं जो केवल मात्र आकाश है, उसे आलोक या अलोकाकाश कहते हैं।

निष्पादितः स केनापि नैव नैवोदधूतस्तथा ।

न भग्नः किन्त्वनाधारो गग्ने स स्वयं स्थितः ॥173॥

यह लोक किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है, अर्थात् अनादिनिधन है। कुछ लोग इसे ब्रह्मादिक का बनाया हुआ कहते हैं सो मिथ्या है तथा किसी से धारण किया हुआ या थामा हुआ भी नहीं है, अन्य कच्छप की पीठ पर अथवा शेषनाग के फन पर ठहरा हुआ कहते हैं, यहै उनका भ्रम है। यदि कोई आशंका करे कि बिना आधार के आकाश में कैसे ठहरेगा भग्न हो जायेगा ? तो उत्तर देना चाहिये कि निराधार होने पर भी भग्न नहीं होता अर्थात् आकाश में वातवलय के आधार से स्वयमेव स्थित है।

अनादिनिधनः सोऽयं स्वयं सिद्धोऽप्यनश्वरः ।

अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थः संभूते भूशम् ॥174॥

यद्यपि यह लोक अनादि निधन है, स्वयंसिद्ध है, अविनाशी है और इसका कोई ईश्वर स्वामी या कर्ता नहीं, तथापि जीवादिक पदार्थों से भरा हुआ है। अन्य लोक रचना की अनेक प्रकार की कल्पनायें करते हैं, वे सब ही सर्वथा मिथ्या हैं।

यत्रैते जन्तवः सर्वे नानागतिषु संस्थितः ।

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशवशंगताः ॥176॥

इस लोक में ये सब प्राणी नाना गतियों में संस्थित अपने-अपने कर्मरूप कोंसी के वशीभूत होकर मरते तथा उपजते रहते हैं।

पवनवलयमध्ये संभूतोऽत्यन्तगाढः ।

स्थितिजननविनाशालिङ्गात्मेवस्तुजातेः ॥

स्वयमिह परिपूर्णोऽनादिसिद्धः पुराणः ।

कृतिविलयविहीनः स्मर्यतामेष लोकः ॥177॥

इस लोक को ऐसा चितवन करना चाहिये कि तीन वलयों के मध्य में स्थित है। पवनों से अतिशय गाढ़रूप घिरा हुआ है। इधर-उधर चलायमान नहीं होता और उत्पाद-व्यय-धीव्य सहित वस्तु सहित वस्तु समूहों से अनादिकाल से स्वयमेव भरा हुआ है अर्थात् अनादिसिद्ध है। किसी का रचा हुआ नहीं है। इसी कारण पुराण है तथा उत्पत्ति और प्रलय से रहित है। इस प्रकार लोक को स्मरण करते रहो, यह लोकभावना का उपदेश है। इसका विशेष स्वरूप त्रैलोक्यसारादि ग्रन्थों से जानना चाहिये। किसी को लोक के अनादिनिधन होने में (अक्रतिमपना में) सदेह में हो तो उसे परीक्षा-मुख की प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमल मात्तण्ड तथा अष्टसहस्री, इलोकवार्तिकादि ग्रन्थों को देखना चाहिये। इनमें कर्तृवाद का विद्वानों के देखने योग्य विशेष प्रकार से (युक्ति प्रमाणों से) निराकरण किया गया है।

लोक के प्रभेद

एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहुविहो वा ।

दवेहिं पञ्जएहि य चितिजो लोयसभार्थ ॥713॥ (मूलाचार II)

पूर्व कथित छह अनुयोगों के द्वारा लोक को भी जानना चाहिए। सामान्य से लोक एक प्रकार का है। जिसमें पदार्थ अबलोकित होते हैं, उपतब्ध होते हैं, वह लोक है। इस अवेक्षा से लोक एक प्रकार है। उर्ध्वलोक और अधोलोक के भेद से दो प्रकार का है। उर्ध्व, मध्य और अधोलोक के भेद से तीन प्रकार का है अथवा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप से तीन प्रकार का है। चार गति के रूप से चार प्रकार का है। पाँच अस्तिकायों के भेद से पाँच प्रकार का है। छह द्रव्यों के स्वरूप से छह प्रकार का है। सात पदार्थ-तत्त्वों के द्वारा सात प्रकार का है। आठ कर्मों के विकल्प से आठ प्रकार का है, इत्यादि रूप से यह अनेक प्रकार का है। इस तरह द्रव्यों के भेद से तथा पर्यायों के भेद से इस लोक के अस्तित्व का अनेक प्रकार से चिन्तन करना चाहिये।

लोक का स्वरूप

लोओ अकिट्टियो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पणो ।

जीवाजीवेहि भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो ॥714॥

यह लोक अकृतिम है क्योंकि निश्चय से यह किसी के द्वारा भी किया हुआ नहीं है। अतः स्पष्ट रूप से यह प्रमाण का विषय है। अर्थात् इस लोक का या सृष्टि का कर्ता कोई नहीं है। जिनागम में यह बात प्रमाण से सिद्ध है। यह आदि और अन्त से रहित होने से अनादि अनन्त है। स्वभाव से ही निर्मित है अर्थात् विश्व स्वरूप से स्वयं ही स्थित है। जीव और अजीव पदार्थों से पूर्णतया भरा हुआ है। नित्य है चूंकि सर्वकाल ही इसकी उपलब्धि हो रही है। तालवृक्ष के समान आकार वाला है अर्थात् नीचे में सात राजू प्रमाण चौड़ा है, मध्य में संकीर्ण एक राजू प्रमाण है। पुनः ब्रह्मलोक में पाँच राजू प्रमाण चौड़ा है और ऊपर से संकीर्ण होकर एक राजू प्रमाण रह गया है।

धर्माधर्मागासा गदिरागदि जीवपुण्यगलाणं च ।

जावत्तावल्लोगो आगासमदो परमणंतं ॥715॥

जहाँ तक धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य हैं तथा जीव और पुद्गलों का गमनागमन है वहाँ तक लोक है। इसके परे अनन्त आकाश है।

तथ्यणुहंवति जीवा सकर्मणिवत्तियं सुहं दुश्वं ।

जर्मणमरणपृणवभवमणंतभवसायरे भीमे ॥717॥

इस लोक में जीव अपने कर्मों द्वारा निर्मित सुख दुःख का अनुभव करते हैं। भयानक अनन्त भव समुद्र में पुनः पुनः जन्म मरण करते हैं।

अनादि अनन्त लोक शाश्वतिक याके कर्ता न कोय ।

अनान मोहवश जीव भर में करता धरता होय ॥

(कनकनंदी जी कृत)

अध्याय

12

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

स्कन्ध, अंडर, आवास, पुलवि और शरीरों में स्कन्धों की संख्या असंख्यात लोकमात्र है। एक-एक स्कन्ध में असंख्यात लोकमात्र अंडर है। एक-एक अंडर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास है। एक-एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवि है। एक-एक पुलवि में असंख्यात लोक प्रमाण शरीर है और एक-एक निगोद शरीर में समस्त अतीत काल में होने वाले सिद्धों से अनन्त गुण जीव हैं। यह बात अन्य ग्रन्थों में भी (गोमटसार में) लिखी है।

एयणिओयसरीरे जीवा दववध्यमाणदो दिहा ।
सिद्धेहि अणंतगुणा सध्वेहि वितीद कालेहि ॥

“एक निगोद शरीर में द्रव्य प्रमाण से जीवों की संख्या समस्त व्यतीत काल के सिद्धों से अनन्त गुणी है।”

इस प्रकार यह समस्त लोक स्थावर जीवों से सदा भरा रहता है। जिस प्रकार बालु के समुद्र में पड़े हुए हीरे के कणों का मिलना अत्यन्त कठिन है। उसी प्रकार इन स्थावर जीवों में से त्रस पर्याय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। त्रस-पर्याय में भी विकलेन्द्रियों की संख्या बहुत है इसीलिये जिस प्रकार गुणों में कृतज्ञता अत्यन्त कठिनता से मिलती है उसी प्रकार त्रसों में पंचेन्द्रिय होना अत्यन्त कठिन है। पंचेन्द्रियों में भी पशु, हिरण, पक्षी, साँप आदि तिर्यक्चरों की संख्या बहुत है इसीलिये जिस प्रकार किसी चौराहे पर (चौरास्ते पर) रत्नों की राशि मिलना कठिन है। उसी प्रकार पंचेन्द्रियों में मनुष्य भव प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। यदि मनुष्य जन्म मिलकर नष्ट हो गया तो जिस प्रकार जिसकी लकड़ी जड़ आदि सब जला दी गई है ऐसा वृक्ष फिर से नहीं उग सकता उसी प्रकार मनुष्य जन्म का फिर से मिलना अत्यन्त कठिन है। कदाचित् दुवारा मनुष्य जन्म मिल भी जाय तो जिन्हें हिताहित का कुछ विचार नहीं है और जो मनुष्यों का आकार धारण करने वाले पशुओं के समान है, ऐसे कुदेशों में रहने वाले म्लेच्छों की संख्या बहुत है। इसीलिये जिस प्रकार मणि का मिलना सुलभ नहीं है उसी प्रकार किसी सुप्रदेशों में उत्पन्न होना भी सुलभ नहीं है। कदाचित् सुप्रदेश में भी मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाये तो भी यह लोक प्रायः पाप कर्म करने वाले जीवों के समूहों से भरा हुआ है इसीलिये जिस प्रकार

वृद्धों की सेवा न करने वाले के विनय का प्राप्त होना कठिन है उसी प्रकार अच्छे कुल में जन्म लेना बहुत कठिन है। अच्छा कुल मिलने पर भी प्रायः जीवों की जाति ही शील विनय आचार संपदा देने वाली होती है। यदि कदाचित् कुल संपदा आदि प्राप्त भी हो जाये तो दीर्घ आयु इन्द्रिय, बल, रूप, और नीरोगता आदि प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। उन समस्त सहयोग के प्राप्त होने पर भी यदि सद्धर्म धारण करने का लाभ न हो तो जिस प्रकार बिना नेत्रों के मुखमंडल व्यर्थ है उसी प्रकार उसका मनुष्य जन्म लेना भी व्यर्थ है। यदि वही अत्यंत दुर्लभ सद्धर्म जिस-तरह से प्राप्त हो जाये और फिर भी वह जीव विषयसुख में निमग्न रहे तो जिस प्रकार केवल भस्म के लिये चंदन जलाना व्यर्थ है उसी प्रकार उसका सद्धर्म प्राप्त होना भी निष्फल है। जो विषय सुखों से विरक्त हो गया है उसके लिये भी तपश्चरण की भावना धर्म की प्रभावना और सुख-मरण अर्थात् समाधिमरण रूप समाधि वा ध्यान की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। इन सब सामग्री मिल जाने पर भी रत्नव्य प्राप्त हो जाना ही सफल गिना जाता है। इस प्रकार चित्तवन करना बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इसके चित्तवन करने से रत्नव्य को पाकर फिर कभी प्रमाद नहीं होता है।

दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य प्रतिक्षणम् ।

कृच्छ्राभ्रकपातालतलाज्जीवस्य निर्गमः ॥178॥ (ज्ञानार्थव)

बुरा है अनन्त, जिसका ऐसा पाप रूपी वैरी से निरन्तर पीड़ित इस जीव का प्रथम तो नरकों के नीचे निगोदस्थान है, जो वहाँ की नित्यनिगोद से निकलना अत्यन्त कठिन है।

तस्माद्यदि विनिष्कान्तः स्थावरेषु प्रजायते ।

त्रसत्वमथवाप्नोति प्राणी केनापि कर्मणा ॥179॥

उस नित्यनिगोद से निकला तो फिर पृथ्वीकायादि स्थावर जीवों में उपजता है और किसी पुण्य कर्म के उदय से स्थावरकाय से त्रसगति पाता है।

यत्पर्याप्तस्तथा संज्ञी पंचाक्षोऽवयवान्वितः ।

तिर्यक्षपि भवत्यज्ञी तत्र स्वल्पाशुभक्षयात् ॥180॥

कदाचित् त्रसगति भी पावे, ती तिर्यक्ष योनि में पर्याप्तता (पूर्णविवर संयुक्तव) पाना कुछ न्यून पाप के क्षय से नहीं होता है अर्थात् बहुत पाप के क्षय होने पर पाता है। उसमें भी मन सहित पंचेन्द्रिय पशु का शरीर पाना बहुत ही दुर्लभ है। उस पर भी सम्पूर्ण अवयव पाना अंतिशय दुर्लभ है।

नरत्वं यद्गुणोपेतं देशजात्यादिलक्षितम् ।

प्राणिनः प्रानुवत्त्यत् तन्मन्ये कर्मलाघवात् ॥181॥

आचार्य महाराज कहते हैं कि ये प्राणीगण संसार में मनुष्यपन और उसमें गुणसहितापन तथा उत्तम देश, जाति, कुल, आदि साहित्य उत्तरोत्तर कर्मों के क्षय से पाते हैं। ये बहुत दुर्लभ हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

आयुः सर्वक्षसाक्रमी बुद्धिः साध्वी प्रशान्तता ।
यत्स्यात्तकाकतालीयं मनुष्यत्वेऽपि देहिनाम् ॥182॥

जीवों के देश जाति, कुलादि सहित मनुष्यपन होते भी दीर्घायु पाँचों इन्द्रियों की पूर्ण सामग्री, विशिष्ट तथा उत्तम बुद्धि शीतल मंदकषायरूप परिणामी का होना काकतालीयन्याय के समान दुर्लभ जानना चाहिये । जैसे, किसी समय ताल का फल पककर गिरे और उसी ही समय काक का आना हो एवं वह उस फल को आकाश में ही पाकर खाने लगे । ऐसा योग मिलना अत्यन्त कठिन है ।

ततो निर्विषयं चेतो यमप्रशमवासितम् ।

यदि स्यात्पुण्ययोगेन न पुनर्स्तत्त्वनिश्चयः ॥183॥

कदाचित् पुण्य के योग से उक्त सामग्री प्राप्त हो जावे तो विषयों से विरक्त वा व्रतरूप परिणाम तथा यम-प्रशमरूप शुद्ध भावों सहित चिंत का होना बड़ा कठिन है । कदाचित् पुण्य के योग से इनकी प्राप्ति हो जाये, तो तत्त्वनिर्णय होना अत्यन्त दुर्लभ है ।

अत्यन्तदुर्लभेषु दैवात्मद्येष्वपि द्वचित् ।

प्रमादात्प्रचयवन्तेऽत्र केचित्कामार्थलालसा: ॥184॥

यद्यपि पूर्वोक्त सामग्री अत्यन्त दुर्लभ है तथापि यदि दैवयोग से प्राप्त हो जाये, तो अनेक संसारी जीव प्रमाद के बशीभूत हो, काम और अर्थ में लुध्व होकर सम्यक्मार्ग से च्युत हो जाते हैं और विषय कषाय में लग जाते हैं ।

मार्गमासाद्य केचिच्च च सम्यग् रत्नव्यायात्मकम् ।

त्यजन्ति गृहमिथ्यात्वविषयामूढचेतसः ॥185॥

कोई-कोई सम्यक् रत्नव्याय मार्ग को पाकर भी तीव्र मिथ्यात्वरूप विष से व्यामूढ़ चित होते हुए सम्यग्मार्ग को छोड़ देते हैं । गृहीत-मिथ्यात्व बड़ा बलवान् है, जो उत्तम मार्ग मिले तो उसको भी छुड़ा देता है ।

स्वयं नष्टो जनः कश्चित्कश्चिन्नष्टैश्च नाशितः ।

कश्चित्प्रचयाव्यते मार्गच्छण्डपाषण्डशासनः ॥186॥

कोई-कोई तो सम्यग्मार्ग से आप ही नष्ट हो जाते हैं, कोई अन्य मार्ग से च्युत हुये मनुष्यों के द्वारा नष्ट किये जाते हैं और कोई-कोई प्रचण्ड पाखण्डियों के उपदेश हुए मतों को पाकर मार्ग से च्युत हो जाते हैं ।

त्यक्त्वा विवेकमाणिकं सर्वभिसिद्धिवम् ।

अविचारितरम्येषु पक्षेष्वज्ञः प्रवर्तते ॥187॥

जो मार्ग से च्युत अजानी हैं, वह समस्त मनोवांछित सिद्धि के देने वाले विवेकरूपी चिन्तामणि रत्न को छोड़कर बिना विचार के रमणीक भासने वाले पक्षों में (मतों में) प्रवृत्ति करने लग जाता है ।

अविचारितरम्याणि शासनान्यसतां जनेः ।

अधमान्यपि सेवयन्ते जिह्वोपस्थाविद्धितः ॥188॥

जो पुरुष जिह्वा तथा उपस्थादि इन्द्रियों से दण्डित है, वे अविचार से रमणीक भासने वाले दुष्टों के चलाये हुये अधम मतों का भी सेवन करते हैं । विषयकषाय क्या-क्या अनर्थ नहीं करते ?

सुप्रापं न पुनः पूसां बोधिरत्नं भवार्णवे ।

हस्ताद्भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे ॥189॥

यह जो बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र स्वरूप रत्नत्रय है वह संसाररूपी समुद्र में प्राप्त होना सुगम नहीं है, किन्तु अत्यन्त दुर्लभ है । इसको पाकर भी खो बैठते हैं, उनको हाथ में रखे हुए रत्न को बड़े समुद्र में डाल देने पर जैसे किर मिलना कठिन है, उसी प्रकार सम्यग्रतनत्रय का पाना दुर्लभ है ।

सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-

मुरगनरसुरेन्द्रः प्राप्तिं चाधिपत्यम् ।

कुलबलमुभगत्वोदामरामादिं चान्यत् ।

किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम् ॥13॥

इस जगत में (त्रैलोक्य में) समस्त द्रव्यों का समूह सुलभ है तथा धरणेन्द्र, नरेन्द्र, सुरेन्द्रों द्वारा प्राप्त नाकरने योग्य अधिपतिपना भी सुलभ है, क्योंकि ये सब ही कर्मों के उदय से मिलते हैं तथा उत्तमकुल, बल, सुभमता, सुन्दर स्त्री आदिक सुलभ हैं; किन्तु जगत प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप बोधिरूप अत्यन्त दुर्लभ है ।

संसारमिह अणते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सतं ।

जुगसमिला सजोगो लवण समुद्रे जहा चेव ॥757॥

मूलाचार द्वितीय

अत्यन्त दीघं इस अनन्त संसार में जीवों को मनुष्य पर्याय का मिलना बहुत ही दुर्लभ है । जैसे कि लवण समुद्र में जुग और समिला का संयोग । अर्थात् जैसे लवण समुद्र के पूर्व भाग में जुवाँ के छिद्र में समिला (रस्ती) प्रवेश कर जाना जैसे कठिन है उसी प्रकार से चौरासी लाख योनियों के मध्य में इस जीव को मनुष्य जन्म का मिलना दुर्लभ है ।

देसकुलजन्म रूबं आऊ आरोग्य बीरियं विणओ ।

सवणं गहणं मदि धारणा य एवे च दुल्लहा लोए ॥758॥

उत्तम देश कुल में जन्म, रूप, आयु आरोग्य, शक्ति, विनय, धर्म-श्रवण, ग्रहण बुद्धि और धारणा ये भी इस लोक में दुर्लभ ही हैं ।

लद्देसु चोधी जिणसासणमिह ण हु सुलहा ।

कुपहण माकुलत्ता जं बलिया राग दोसा य ॥759॥

इनके मिल जाने पर भी जिन शासन में बोधिसुलभ नहीं है, क्योंकि कुपथों की बहुलता है और रागद्वेष भी बलवान् है ।

सेयं भवभयमहणी बोधी गुणवित्थडा मए लद्वा । ॥७५॥
जदि पडिदा गहु सुनहा तम्हा ण खमो पमादो मे ॥७६॥

सो यह भवमय का मंथन करने वाली, गुणों से विस्तार को प्राप्त बोधि मैंने प्राप्त कर ली है। यदि यह छूट जाय तो निश्चित रूप से पुनः सुलभ नहीं है। अतः मेरा प्रमाद करना ठीक नहीं है ।

दुल्लहलाहं लद्वूण बोधि जो जरो पमादेज्जो ।

सो पुरिसो कापुरिसो सोयदि कुगांदि गदो संतो ॥७६॥

जो मनुष्य दुर्लभता से मिलने वाली बोधि को प्राप्त करके प्रमादी होता है वह पुरुष कायर पुरुष है। वह दुर्गति को प्राप्त होता हुआ शोक करता है।

उवसमख्यमिस्सं वा बोधि लद्वूण भणियपुंडरिओ ।

तब संज्ञम संज्ञतो अक्खयसोबहं तदो लहदि ॥७६॥

श्रेष्ठ भव्य जीव उपशम, धायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके जब तप और संयम से युक्त हो जाता है तब अक्षय सीख्य को प्राप्त कर लेता है।

तम्हा अहमपि णिच्चं सद्वासंवेग विरियविणएर्हि ।

अत्ताणं तह भावे जह सा बोही हवे सुहरं ॥७६॥

इसीलिये मैं भी श्रद्धा, संवेग, शक्ति और विनय के द्वारा उस प्रकार से आत्मा की भावना करता हूँ कि जिस प्रकार वह बोधि चिरकाल तक बनी रहे।

बोधीय जीवदव्वादियाइ बुज्जइ हु णव वि तच्चाइ ॥

गुणसयसहस्र कलियं एवं बोही सया ज्ञाहि ॥७६॥

बोधि से जीव, पुद्गल आदि छह द्रव्य तथा अजीव आदि नव तत्त्व (पदार्थ) जाने जाते हैं। इस तरह हजारों गुणों से सहित बोधि का सदा ध्यान करो।

जनम मरण मोह राग द्वेष अत्यन्त सुलभ भाई ।

संनार नाशक मोह प्रणाशक सुज्ञान दुर्लभ होई ॥

(कनकनंदी जी कृत)

1173॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1174॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1175॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1176॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1177॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1178॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1179॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1180॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1181॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1182॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1183॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1184॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1185॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

अध्याय 13

धर्मतत्त्वानुप्रेक्षा

1186॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1187॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1188॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1189॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1190॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1191॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1192॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1193॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1194॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1195॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1196॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1197॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1198॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1199॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1200॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1201॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1202॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1203॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1204॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1205॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1206॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1207॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1208॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1209॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1210॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1211॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1212॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1213॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1214॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1215॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1216॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1217॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1218॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

1219॥ एवं इन्द्रियों के द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जाता है।

धर्मो नरोरगाधीशनाकनायकवाच्छिताम् ।
अपि लोकवयीपूज्यां थियं दत्ते शशीरिणाम् ॥153॥
धर्मं जीवों को चक्रवर्ती धरणेन्द्र तथा देवेन्द्रों द्वारा वांछित और लैलोक्यपूज्य
तीर्थकर की लक्ष्मी को देता है ।

धर्मो व्यसनं संपाते पाति विश्वं चराचरम् ।
सुखामृतपयः पूरैः प्रीणयत्यखिलं जगत् ॥154॥
धर्म कष्ट के आने पर समस्त जगत के वस, स्थावर जीवों की रक्षा करता
है और सुखरूपी अमृत के प्रवाहों से समस्त जगत को तृप्त करता है ।
पर्जन्यपवयार्कन्दुधराम्बुधिपुरन्दराः ।

अभी विश्वोपकारेषु वर्तन्ते धर्मरक्षिताः ॥155॥
मेघ, पवन, सूर्य चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र और इन्द्र ये सम्पूर्ण पदार्थ जगत के
उपकार रूप प्रवर्तते हैं और वे सब ही धर्म द्वारा रक्षा किये हुए प्रवर्तते हैं । धर्म के
बिना ये कोई भी उपकारी नहीं होते हैं ।

मन्येऽसौ लोकपालानां व्याजेनाव्याहतक्रमः ।
जीवलोकोपकारार्थं धर्मं एव विजृम्भितः ॥156॥
आचार्य महाराज ऐसा मानते हैं कि, इन्द्रादिक, लोकपाल अथवा राजादिकों
के व्याज से (वहाने से) लोकों के उपकारार्थ यह धर्म ही अव्याहत फैल रहा है ।

न तत्त्वजगतीमध्ये भुक्तिसुत्योनिबन्धनम् ।
प्राप्यते धर्मसामर्थ्यान्नि यद्यमितमानसः ॥157॥
इस तीन जगत में भोग और मोक्ष का ऐसा कोई भी कारण नहीं है, जिसको
धर्मात्मा पुरुष धर्म की सामर्थ्य से न पाते हो अर्थात् धर्म सामर्थ्य से समस्त
मनोवांछित पद को प्राप्त होते हैं ।

नमन्ति पादराजीवराजिकां नतमौलयः ।
धर्मक्षशरणीभूतचेतसां त्रिदशेश्वराः ॥158॥
जिनके चित्त में धर्म ही एक शरणभूत है, उनके चरण कमलों की पंक्ति को
इन्द्रगण भी नमीभूत मस्तक से नमस्कार करते हैं ।

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च वान्धवः ।
अनाथवत्सल्यः सोऽयं स वाता कारणं बिना ॥159॥
धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, वान्धव है, हितु है और धर्म ही बिना
कारण अनाथों की प्रीतिपूर्वक रक्षा करने वाला है । इस प्राणी को धर्म के अतिरिक्त
और कोई शरण नहीं है ।

धर्मं गुरु है, मित्र है, स्वामी है, वान्धव है, हितु है और धर्म ही बिना
कारण अनाथों की प्रीतिपूर्वक रक्षा करने वाला है । इस प्राणी को धर्म के अतिरिक्त
और कोई शरण नहीं है ।

धर्मं नरकपाताले निमज्जंगतां व्यम् ।
योजयत्यपि धर्मोऽयं सौख्यमत्यक्षमद्भिनाम् ॥159 + 1॥

यह धर्म नरकों के नीचे जो निगोद स्थान है उसमें पड़ते हुए जगतवय को
धारण करता है, अवलम्बन देकर बचाता है तथा जीवों को अतिन्द्रियसुख को भी
प्रदान करता है ।

न रकान्धमहाकूपे पततां प्राजिनां स्वयम् ।
धर्मं एव स्वसामर्थ्याद्वत्ते हस्तावलम्बनम् ॥160॥
न रकरूपी महाअंधकूप में स्वयं गिरते हुए जीवों को धर्म ही अपने सामर्थ्य
से हस्तावलम्बन (हाथ का सहारा) देकर बचाता है ।

महातिशय सम्पूर्णं कल्याणोदाममन्दिरम् ।
धर्मो ददाति निविद्धं श्रीमत्सर्वज्ञवैभवम् ॥161॥
धर्म, महाअतिशय से पूर्ण, कल्याणों के उत्कट निवास स्थान और निविद्ध
ऐसे लक्ष्मी सहित सर्वज्ञ भगवान के वैभव को देता है अर्थात् तीर्थकर पदवी को प्राप्त
कराता है ।

याति सार्थं तथा पाति करोति नियतं हितम् ।
जन्मपञ्चात्समुद्रधृत्य स्थापयत्यमले पथि ॥162॥
धर्म, परलोक में प्राणी के साथ जाता है, उसकी रक्षा करता है, नियम से
उसका हित करता है, तथा संसाररूपी कर्दम से उसे निकाल कर निर्मल मोक्षमार्ग
में स्थापना करता है ।

न धर्मसदशः कश्चित्सर्वभ्युदयसाधकः ।
आनन्दकुंजकन्दश्च ह्रितः पूज्यः शिवप्रदः ॥163॥
इस जगत में धर्म के समान अन्य कोई समस्त प्रकार के अभ्युदय का साधक
नहीं हैं । यह मनोवांछित सम्पदा का देने वाला है । आनन्दरूपी वृक्ष का कन्द है
अर्थात् आनन्द के अंकुर इससे ही उत्पन्न होते हैं तथा हितरूप, पूजनीय और मोक्ष
का देने वाला भी यही है ।

व्यालानलगरव्याद्रिपशार्दूल राक्षसाः ।
नूपाद्योऽपि द्रुहृतिं न धर्माद्यधिष्ठितात्मनाम् ॥164॥
जो धर्म से अधिष्ठित (सहित) आत्मा है, उसके साथ सर्व, अग्नि, विष, व्याघ्र,
हस्ती, सिंह, राक्षस तथा राजादिक भी द्रोह नहीं करते हैं अर्थात् यह धर्म इन सबसे
रक्षा करता है अथवा धर्मात्माओं के यह सब रक्षक होते हैं ।

धर्मं धर्मं प्रजल्पन्ति तत्त्वशून्या कुदृष्टयः ।
वस्तुतत्वं न बुद्ध्यन्ते तत्परीक्षाक्षमा यतः ॥165॥
तत्व के यथार्थ ज्ञान से शून्य मिथ्यादृष्टि 'धर्म-धर्म' ऐसा तो कहते हैं
परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते । क्योंकि वे उसकी परीक्षा करने में
असमर्थ हैं ।

तितिक्षा मार्दवं शौचमार्दवं सत्यसंयमौ ।
ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिञ्चर्यं धर्मं उच्यते ॥167॥

(1) क्षमा (2) मार्दव (3) शीघ्र (4) आजंब (5) सत्य (6) संयम
 (7) ब्रह्मचर्य (8) तप (9) श्याम और (10) आकिञ्चन्य ये दस प्रकार के धर्म हैं।
 इनका विशेष स्वरूप तत्त्वार्थ सूत्रों की टीकाओं से जानना चाहिए।

यद्यत्स्वध्यानिष्टं तत्त्वाक्चित्कर्मभिः कार्यम् ।

स्वध्येऽपि ना परेषामिति धर्मस्याप्रिमं लिङ्गम् ॥168॥

धर्म का मुख्य (प्रधान) चिन्ह यह है कि जो-जो क्रियाएँ अपने को अनिष्ट (बुरी) लगती हैं हो, सो-सो अन्य के लिये मन, वचन, काय से स्वप्न में भी नहीं करनी।

धर्मः शर्म भुजङ्गपुङ्गवपुरीसारं विधातु क्षमो ।

धर्मः प्रापितमर्थलोक विपुल प्रीतिस्तदाशंसिनाम् ॥

धर्मः स्वर्गनगरीनिरन्तर सुखास्वादोदयस्यास्पदम् ।

धर्मः कि न करोति मुक्तिललनासंभोगयोर्यं जनम् ॥169॥

यह धर्म धर्मस्ता पुरुषों को धरणेन्द्र की पुरी के सारसुख को करने में समर्थ है, तथा यह धर्म उस धर्म के बांच्छक और उसके पालने वाले पुरुषों को मनुष्य लोक में विपुल प्रीति (सुख) प्राप्त कराता है, और यह धर्म स्वर्ग पुरी के निरन्तर सुखास्वाद के उदय का स्थान है, तथा यह धर्म ही मनुष्य को मुक्ति स्त्री से सभोग करने योग्य करता है। धर्म और क्या-क्या नहीं कर सकता?

यदि न रक्निपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट-

स्त्रिवशपतिमहाद्वि प्राप्तुमेकान्ततो वा ।

यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदार्नी,

किमपरममिधेयं नाम धर्मं विधत्त ॥178॥

हे आत्मन् ! यदि तुझे नरकनिपात को छोड़ना परम इष्ट है अथवा इन्द्र का महान् विभव पाना एकान्त ही इष्ट है, यदि चारों पुरुषार्थों में से अन्त का पुरुषार्थ (मोक्ष) प्रार्थनीय ही है, तो और विशेष क्या कहा जावे, तू एकमात्र धर्म का सेवन कर क्योंकि धर्म से ही कर्म नष्ट होकर समस्त प्रकार के इष्ट की प्राप्ति होती है।

सब्ब जगस्स हिंदकरो धर्मो तित्यंकरेहि अव्यादो ।

धर्णा तं पदिवणा विसुद्धमणसा जगे मण्या ॥752॥

मूलाचार II

तीर्थकरों द्वारा कथित धर्म सर्व जगत् का हित करने वाला है। विशुद्ध मन से उसका आश्रय लेने वाले जगत् में धन्य है।

जेणेह पाविदव्यं कल्पाणपरंपरं परमसोवद्यं ।

सो जिणदेसिदध्मं भावेणुवणज्जदे पुरिसो ॥753॥

जिसे इस जगत् में कल्याणों की परम्परा और परम सौख्य प्राप्त करना है वह पुरुष भाव से जिनेन्द्र देव द्वारा कथित धर्म को स्वीकार करता है।

खंतीमद्विवज्ज्वलाघवतव संजमो आकिञ्चन्दा ।

तह होई बंभचेरं सच्चं चाक्षो य दसधम्मा ॥754॥

क्षमा, मार्दव, आजंब, लाघव, तप, संयम आकिञ्चन्य तथा ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ये दस धर्म हैं।

धर्म भावना का फल—

उवसम दया य खंती चढ़दइ वेरगदा य जह जह से ।

तह तह य मोक्षसोक्षं अक्षीयं भावियं होइ ॥755॥

जैसे-जैसे इस जीव के उपशम, दया क्षमा और वैराग्य बढ़ते हैं वैसे-वैसे ही अक्षय मोक्षसुख भावित होता है।

संसारविसमदुग्धे भवगहणे कह वि मे भमंतेण ।

दिट्ठो जिनवरदिट्ठो जेट्ठो धम्मोत्ति चितेज्जो ॥756॥

संसारमय विषय दुर्ग इस भव वन में भ्रमण करते हुए मैंने बड़ी मुश्किल से जिनवर कथित प्रधान धर्म प्राप्त किया है—इस प्रकार से चिन्तवन करें।

सर्वेच्छा पूरक सर्वार्थ साधक अनंत सुख के दाइ ।

तीन लोक के सार चितामणी आत्म धरम होइ ॥

“कनकनन्दी मुनिमहाराजकृत”

भावना (इच्छा शक्ति) की महत्ता

‘मन को जिस बात की अपेक्षा रहेगी, वही वह निर्माण करेगा।’ ‘आपकी शान्तिक विवरना नहीं अपिनु आपकी आकांक्षा आपकी वास्तविकता को अभिव्यक्त करेगी।’

हमारी हार्दिक आकांक्षाएँ हमारी आत्मिक प्रेरणाएँ, मात्र कल्पना अथवा व्यर्थ के विचार नहीं अपितु उससे बहुत कुछ बढ़कर हैं। वे वास्तविकता की भविष्यवाणियाँ हैं। वे हमारी सम्मावनाओं की सूचक हैं। उनसे हमारे उद्देश्य की उच्चता और हमारी करुत्व शक्ति की परिज्ञान होता है।

जिसके लिये हम सोचते हैं, जिसके लिये वास्तव में इच्छा करते हैं और प्रयत्न करते हैं, वह वास्तव में यथार्थ में परिणत होता ही है।

जब हम किसी वस्तु की मन में इच्छा करने लगते हैं और अपने हृदय में उसकी कामना करते हैं, उसी क्षण हम उससे तादात्म्य स्थापित करने लग जाते हैं। किन्तु हमारे साथ कठिनाई यह है कि हम आदर्शमयता की अपेक्षा जीवन की भौतिकता की ओर अधिक जुकाम बना लेते हैं। जिनको हम वास्तविकता में व्यक्त करना चाहते हैं, हमें चाहिये कि हम वैसी ही मानविकता भी विकसित करें। जब

भी हम किसी वस्तु की कामना करते हैं और सर्वात्मना उसको पाने के लिये यत्न करते हैं तो उसी समय हमारा उस वस्तु से सम्बन्ध जुड़ जाता है।

तथापि यह सब कुछ होते हुए भी कभी-कभी वांछित सफलता नहीं प्राप्त होती। क्योंकि अपने जीवन के स्थूल पहलूओं पर तो हम अपना ध्यान केन्द्रित कर लेते हैं, परन्तु लक्षण की ओर उस अनुपात में ध्यान नहीं दे पाते। यदि हमें सफलता प्राप्त करनी है तो हमें अपने अभिलाषित उद्देश्य पर सब प्रकार से स्थिर रहना होगा। यदि हम चाहते हैं कि हम सदा स्वस्थ रहें, बुढ़ापे से दूर रहें, तो हमें चाहिये कि तदनुसार अपना रहन-सहन, खान-पान के अतिरिक्त हमें अपने में भी सदा योग्यता से परिपूर्ण विचार बनाये रखें होंगे। जो लोग मन तथा शरीर से सदा स्वस्थ रहते हैं, बुढ़ापा उनसे दूर भागता है। यह सब इच्छा शक्ति की करामत ही है।

आपका जिस कार्य के लिए जन्म हुआ है, आपको जिस काम के लिये नियुक्त किया गया है उसके विषय में आपको अपने हृदय में वह निश्चय करना होगा कि वह कार्य आप करके ही रहेंगे, उसके विषय में कभी क्षणमात्र के लिये भी अपने मन में शंका को स्थान मत दीजिये। यदि कभी मन में शंका उठने भी लगे तो उसको मन से तुरन्त दूर भगाइए। केवल उन विचारों को ही मन में स्थान दीजिये जो आपके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। उत्साह हीनता और विपरीत विचारों को मन में उठने ही मत दीजिये।

जब एक बार मन अथवा मस्तिष्क में प्रसन्नता, आनन्द और उन्नति का चित्र बनाने का स्वभाव बन जाता है तो फिर उसके विपरीत विचार बनना उठने सरल नहीं होते। यदि हमारे बच्चे एक बार ऐसा अभ्यास बना लें तो इससे जहाँ एक और बड़ी त्वरित गति से हमारी सम्भया पर प्रभाव पड़ेगा वहाँ दूसरी ओर हमारे उन्नत जीवनादर्शों पर भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार जब मस्तिष्क का प्रशिक्षण हो जाएगा तो फिर वह सदा ही अपना अधिकतम सामर्थ्य इसके लिये प्रयोग करेगा और फिर हमारी शान्ति, सुख-सुविधा, कार्यक्षमता तथा सफलता में बाधक सैकड़ों कष्टों और बाधाओं को सहज ही पार कर लेगा।

केवल अपने मन को इस बात के लिए प्रशिक्षित करना कि हमारा भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है, हम सुखी और समृद्ध बनने वाले हैं, हमारा सुन्दर घर होगा, सुन्दर और शांतिमय पारिवारिक जीवन होगा तथा हम किसी आदर्श विशेष के लिये प्रयत्नशील हैं, यह एक ऐसी अमूल्य पूँजी होगी कि इससे यदि हमने जीवन आरम्भ किया तो हम सदा प्रसन्न और सुखी रहेंगे।

मनुष्य जैसा बनना चाहता है अथवा जिस किसी के जैसा बनना चाहता है उसको चाहिए कि वह उसका ही आदर्श अपने समृद्ध रखे और सदा यह अनुभव करे कि उसमें भी उसके समान ही अपूर्वकार्यक्षमता है। इस अवस्था में यदि किसी प्रकार

हीनभावना अपने मन में उठने लगे तो उसको दूर भगा देना चाहिए। यदि मनुष्य ऐसा कर सके तो कोई कारण नहीं कि वह अपने आदर्श को प्राप्त न कर सके।

आशावादिता स्वयं में विलक्षण है। आशावादिता महान् शक्ति का स्रोत है। यदि आपके मन में यह आशावादिता विद्यमान रहे और आप यह निश्चय करें कि जो कुछ भी होगा आपके लिये अच्छा ही होगा तो आप अनुभव करेंगे कि, इन आशा भरे विचारों से आपकी मानसिक और शारीरिक दोनों ही स्थितियों पर बहुत अच्छा प्रभाव हुआ है। मनुष्य को इस प्रकार का स्वभाव बना लेना चाहिए।

मनुष्य चाहे जो भी कार्य करे किन्तु उसको चाहिए कि उसके विचारों में सदा आशा ही ज्ञालकरी रहे। इससे उसकी कार्यशक्ति में वृद्धि होती है। इस संसार में ऐसे भी मनुष्य देखने को मिलते हैं, जो अपनी आशाओं को प्रबल बनाने की अपेक्षा उन्हें निर्बंल बना देते हैं। उसका कारण उनकी इस बात से अनधिक्षता है कि आशाओं, आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये इड़ निश्चय और स्थिर स्वभाव की नितान्त आवश्यकता है। जो व्यक्ति निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, उसकी आशाओं की पूर्ति सहज ही सम्भाव्य है।

मनुष्य के मार्ग में आने वाली बाधाओं से यदि वह घबरा गया तो कार्य सिद्धि सम्भव नहीं है। उस अवस्था में सतत प्रयत्न की आवश्यकता होती है। प्रयत्नशील मनुष्य, रुकावटों और बाधाओं को पार कर जाता है। किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिये केवल कामना से काम नहीं चलता, उसके लिये प्रयत्न और परिश्रम परमावश्यक होता है। प्रयत्न और परिश्रम के अभाव में आपको सारी आशाएँ पानी के बुद्धुदे के समान सिद्ध हो सकती हैं।

इड़ अभिलाषा और इड़ निश्चय मनुष्य की उत्पादन शक्ति को बढ़ाती है। सफलता ऐसे व्यक्ति की चेरी बन जाती है। किसी भी मनुष्य की आशा-आकांक्षा तभी फलवती हो सकती है, जबकि वह उसको इड़ निश्चय में परिवर्तित करे। मनुष्य इड़ निश्चयी हो और स्वयं में किसी प्रकार की कमी जनुभव न करता हुआ पूर्णता का अनुभव करें और सदा यही विचार करता रहे कि वह भी परमात्मा का ही स्वरूप है इसीलिए उसकी भाँति वह भी स्वींग-सम्पूर्ण है तो उसको इससे स्फूर्तिमात्र होगी और दुर्बंल भावनाएँ भाग जाएंगी। उसकी कार्यक्षमता बढ़ जायेगी।

मनुष्य जिस कार्य अथवा बात को पूर्ण करना चाहता है, उसका ही वह चिन्तन, मनन और निर्वचन करे। हर बात कहने अथवा सोचने से तो कोई लाभ होता नहीं। जो लोग सदा ही बहाना करते हैं कि वे थक गये हैं, इसके अभ्यस्त हो गये हैं, सब कुछ करके देख लिया है, वे तो सदा से ही दुर्भाग्यशाली रहे हैं, लगता है भाग्य हमारा विरोध ही करता रहेगा आदि आदि। वे तो सदा निर्धन ही रहेंगे। वे यह नहीं सोचते कि इस प्रकार के विचारों को अपने मन में स्थान देकर वे अपने सुख शांति के शत्रुओं को स्थान दे रहे हैं। ऐसे लोगों को चाहिए कि वे इस प्रकार

के विचारों को अपने मन से तुरन्त निकाल दें और फिर कभी उनको प्रविष्ट न होने दें।

मनुष्य को सदा उच्च विचारों से आवेषित रहना चाहिये। जो व्यक्ति उच्च महान् और पवित्र विचारों को अपने मन में स्थान देता है उसको न केवल सुख और शांति प्राप्त होती है अपितु वह जीवन में उन्नति भी करता है। यदि मनुष्य किसी विषय में निपुणता, कुशलता प्राप्त करना चाहता है तो उसको चाहिये कि वह अपने सम्मुख उच्च आदर्शों को रखे और तन्मय होकर उस कार्य में जुट जाये। तब तक वह उस कार्य से लगा रहे जब तक कि उसको सफलता प्राप्त न हो।

जिस व्यक्ति के सम्मुख जैसा आदर्श होगा उसके अनुसार ही उसका चरित्र भी बनेगा। यदि किसी मनुष्य के आदर्श के विषय में जानने की उत्क्षणा हो तो उसका ज्ञान उसके आदर्श को जानने से सहज ही प्राप्त हो जायेगा। मनुष्य का आदर्श ही उसके जीवन को वास्तविक जीवन बनाता है। मनुष्य का जैसा आदर्श होगा उसके मुख पर उसका प्रतिविम्ब स्पष्ट परिलक्षित होता है। मनुष्य की मुख्याकृति उसके आदर्श की छवि को छिपाने में समर्थ नहीं है। अतः मनुष्य को चाहिये कि उसके विचार उसका आदर्श, उसके मानसिक भाव, ये सभी उत्तम दिव्य और श्रेष्ठ हों। निर्धनता, अज्ञान, अस्वस्थता, आधिकारिक से उसका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहेगा और वह सदा यहीं विश्वास करेगा कि उससे सदा मुकर्म ही होगा दुष्कर्म नहीं।

जिस बात पर हम विश्वास करते हैं, जिसकी हमको सम्भावना है, वह हमें प्राप्त होगा ही, इस प्रकार के विचार रचनात्मक विचार हैं। अच्छा घर, सुख-समृद्धि, आशावादिता, प्रभावशाली व्यक्तित्व, आदर्शवादिता, समाज में समादर इस प्रकार की आशा, आकौशा और अपेक्षा बहुत ही उत्तम और रचनात्मक विचारों की उपज है। मनुष्य की सारी विचार सारणी उसके जीवनोद्देश्य की ओर ही अग्रसर रहनी चाहिये।

इस जीवन में जो भी चमत्कारिक कार्य हुए हैं वे सब विचारों की एकाग्रता से ही सम्पन्न हो पाये हैं। मनुष्य यदि विचारों के संसार में विचरण करे और यह सोचे कि उसको बहुत बढ़िया वस्तुएँ प्राप्त होने वाली हैं, कुछ बहुत ही सुन्दर, कुछ बहुत बड़ा, कुछ बहुत ही उत्तम वस्तु है उसकी प्रतीक्षा कर रहा है और इसके लिये वह उसी प्रकार यत्न भी करे और उसका मस्तिष्क उसी दिशा में रचनात्मक कार्य करे तो वह अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिये संघर्ष करेगा और निश्चय ही उसको उसकी प्राप्ति भी होगी। आपके मन में यह धारणा होनी चाहिए कि आप वास्तव में प्रगति कर रहे हैं, किसी उच्चता की ओर बढ़ रहे हैं तो निश्चय ही आप-अपने लक्ष्य प्राप्ति में सफल होंगे।

कुछ लोगों की यह धारणा होती है कि यदि वे अपनी कल्पनाओं, स्वप्नों से खेलने लगें तो हो सकता है कि उनको सफलता न मिले, किन्तु यह उनका विचार ही है। हमें इन विचारों की उत्पत्ति सद्प्रयासों के लिये होती है। जिससे कि हम वास्तविकता को पहचान सकें। वे हमको अपने आदर्शों के अनुकूल बनाने में सहायता देते हैं भले ही हमको कितनी ही कठिनाइयों में काम कर्यों न करना पड़े, उस समय हमारे ये प्रेरक विचार ही हमारा उत्साह बढ़ाते हैं। हमारा स्वप्न-संजोना हमें वास्तविकता की ओर ले जाने के लिये होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि जो सम्भव है वही हम विचार कर रहे हैं।

कई बार मनुष्य इस आशंका में पड़ जाता है कि उसकी आत्मा किसके आधय प्रगति के पथ पर आगे बढ़ सकती है? वह अद्भुत और दिव्य पदार्थ क्या है, जो हमारी आत्मा को आनन्दित कर सकता है? उसको यह ध्यान में रखना चाहिये कि वह पदार्थ अन्य कुछ नहीं केवल उसके आदर्श से उत्पन्न प्रभाव ही है। यह आपके मन में उत्पन्न वह पावन ज्योति पूज है जो आपके जीवन पथ को सतत आलोकित करती रहती है। अभिप्राय यह है कि आदर्शवादी और आशावादी व्यक्ति के लिये जीवन पथ पर आगे बढ़ने के लिए उसके स्वयं के आदर्श ही उसका पथ प्रदर्शन करते हैं। किसी अन्य के आश्रय की उसको आवश्यकता नहीं होती।

हम सब अपने विचारों के ही उत्पादक हैं। हम जिस किसी पर भी केन्द्रित होते हैं, बस, समझिए कि वही हम हैं। मनुष्य के मन में नित्य-प्रति इस प्रकार के विचार उत्पन्न होना कि हम वह उच्चतम मानव हैं जिसको इस धरती पर दिव्य कार्यों की सिद्धि के लिये भेजा गया है और हम में वह योग्यता भी है तथा हमें अवसर भी है कि हम उनकी सिद्धि कर सकते हैं, इससे मनुष्य को बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त होती है और उसका उत्साह बढ़ता है।

अपने निर्धारित लक्ष्य अथवा आदर्श तक पहुँचने के लिये मनुष्य की स्वयं की आस्था और श्रद्धा उसकी बड़ी सहायता होती है। मनुष्य को सदा इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि उसकी आस्था और श्रद्धा ही उसकी आशा, आकौशा और और अभिलाषा की जनक है। किन्तु केवल मनुष्य को इतने पर भी संतोष नहीं कर लेना चाहिये। श्रद्धा के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। यदि मनुष्य थोड़ा सा भी विचार करे तो उसको विदित होगा कि हमारे अन्तस में कुछ ऐसा भी छिपा हुआ है जो आश्चर्य कारक है जो श्रद्धा आशा आदि से आवृत्त रहने पर भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वह मनुष्य की प्राकृतिक अभिलाषाओं का सुखदाता है। वह क्या है? वह है सत्य, विरचन सत्य। यह भी जीवन का सत्य है कि मनुष्य जिस पर वहाँपूर्वक विश्वास करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त होता है।

मनुष्य यदि यह चाहता हो कि उसका जीवनोद्देश्य पूर्ण हो तो उसके लिये उसको चाहिये कि अपने समस्त विचारों और कार्यशक्ति को अपने उद्देश्य की पूर्ति

के लिये समर्पित करे। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये सर्वात्मना समर्पित हो जाना आशातीत सफलता का द्योतक है। निश्चय ही वह आदर्शी अपने उद्देश्य में शतशः सफल सिद्ध होगा।

मनुष्य को चाहिये कि वह उन पदार्थों के स्वप्न संजोए, उन पदार्थों की कल्पना करे, जो दिव्य हों, जब वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्यरत होता है तो उसको निरन्तर यही विचार करना चाहिये कि वह उस ओर निरन्तर बढ़ रहा है, उसके उद्देश्य की पूर्ति होने वाली है, इस प्रकार जहाँ उसको अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता मिलेगी वहाँ उसको इससे अतीव आनन्द की भी प्राप्ति होगी। इसे ही आवातीत आनन्द की संज्ञा दी गई है।

जो लोग इस प्रकार के काल्पनिक स्वप्नों को शेष्वचिली के स्वप्नों कहते हैं, उनकी यह बहुत भारी भूल है। कोई भी कार्य करने से पूर्व किसी भी उद्देश्य के निर्धारण के पूर्व मनुष्य को कुछ न कुछ कल्पना तो करनी ही होगी, कोई आदर्श अपने सम्मुख रखना ही होगा। उसके आधार पर वह उस कार्य में अग्रसर हो सकता है। यदि आपको कोई कल्पना नहीं है, कोई स्वप्न नहीं है तो फिर आपका उद्देश्य किस प्रकार सफल हो सकता है? आप किस उद्देश्य की पूर्ति लिये अपना जीवन गतिशील कर पायेंगे। अतः किसी भी कार्य को करने से पूर्व मनुष्य का अपनी इच्छा शक्ति को सुदृढ़ करना आवश्यक होता है। उसके बाद अपनी शारीरिक और मानसिक सभी शक्तियों को उस कार्य अथवा उद्देश्य की पूर्ति के लिये लगाना होता है।

जो कुछ भी हमारे जीवन में घटित होता है उसकी प्रथम परिकल्पना हमारे मस्तिष्क में होती है। फिर वही हमारे समक्ष-प्रत्यक्ष होने लगता है। आपकी परिकल्पना आपके जीवन रूपी भवन की निर्माणी है। उन परिकल्पनाओं को साकार रूप देना आवश्यक है, अन्यथा वे केवल कल्पना लोक में ही विलीन होकर निरर्थक सिद्ध होंगी और आप आलस्यवादी अथवा पलायनवादी कहलायेंगे।

वे सभी लोग जो कभी महान् हुए हैं अथवा जिन्होंने महान् कार्य किये हैं उन्होंने पहले इसी प्रकार स्वप्न संजोए थे और फिर उनको बाद में कार्य-रूप दिया था। जिसने जितना प्रयत्न किया उसने उतनी सफलता प्राप्त की। इस प्रकार उन्होंने अपने स्वप्न को सत्य सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की।

अपने स्वप्न को, अपने आदर्श को केवल इसीलिये नहीं छोड़ना चाहिये कि वह आपको कार्यक्रम में सत्य सिद्ध होता नहीं दिखाई दे रहा है। यह प्रवृत्ति धातक है उसके लिये आपको चाहिये कि आप जितना सम्भव हो सके उसके लिये वैसा वातावरण तैयार करिये, किन्तु अपने स्वप्न को सजग रखिये। यह ध्यान रखिये कि आपकी आजाविका अपने आदर्श से आपको गिरने न दे। उसको जीवित रखिये। आपकी आकांक्षा की पूर्ति के लिये जो उचित हो उस प्रकार का साहित्य पढ़िये उन लोगों

के साथ अधिक सम्पर्क रखिये जो उस कार्य में पहिले से ही प्रवृत्त हों और उनके जीवन के रहस्य को जानने का यत्न करिये।

दिन-भर का कार्य सम्पन्न होने पर रात्रि को जब आप सोने के लिये जार्य तो सोने से पूर्व शांति से बैठकर एकांत में विचार करिये और देखिये कि आप अपने उद्देश्य के कितने निकट अथवा कितने दूर रहे हैं। विरोधी और अनुत्साहक विचारों के उठने पर घबराइये नहीं। आप अपनी कल्पना में अपने उद्देश्य का सुन्दरतम् रूप ही देखने का यत्न करिये।

आपकी इन कल्पनाओं का तात्पर्य उन स्वप्नों से कदापि नहीं, जो क्षणिक होते हैं। अपितु वह तो उस सच्ची लगन और प्रकृत अभिलाषाओं से है जो सदैव आपको स्मरण कराते रहते हैं कि आप अपने जीवन को ऊँचा उठाएं, उसे महान् बनायें और अपने उन स्वप्नों को साकार कर दें, जिनको आप अपने कल्पना लोक में देखा करते थे।

मनुष्य की उपयुक्त आकांक्षाओं की पृष्ठभूमि में दिव्य भावनायें निहित होती है। कोई व्यक्ति यदि कचरा बटोरने का ही स्वप्न देखेगा, तो वह कचरा बटोरने वाला बनेगा, और सदैव वैसा ही रहेगा, उससे ऊपर नहीं उठ सकता।

इसीलिये मनुष्य को यह नहीं भूलना चाहिये कि उसकी अभिलाषायें, आशायें और आकांक्षायें ही उसकी दैनिक प्रार्थनायें हैं। इन प्रार्थनाओं को प्रकृति सुनती है और वह उसका यथोचित उत्तर भी देती है। यदि मनुष्य के विचार उचित दिशा में कार्य कर रहे हैं और वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये निष्ठा से संघर्ष करता है, उसके प्रयत्नों में ईमानदारी है, तो कोई कारण नहीं है कि वह अपने उद्देश्य को प्राप्त न कर पाये।

हमारी हार्दिक अभिलाषायें हमारे भीतर रचनात्मक शक्ति उत्पन्न करती हैं। वे हमें अपने कार्य की ओर अग्रसर होने के लिये निरन्तर प्रेरणा स्रोत का कार्य करती हैं। अतः जो मनुष्य अपने आदर्श तक पहुँचना चाहता है उसको चाहिये कि वह अपनी आत्मशक्ति से निर्देश प्राप्त करता हुआ आगे बढ़े तो शीघ्र ही वह अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

शीत क्रृतु में पक्षी, दक्षिण की ओर स्वाभाविक ही क्ष्यों बढ़ने लगते हैं, क्ष्योंकि इसकी उनको अपने अन्तस् से प्रेरणा प्राप्त होती है। तब वे स्वतः ही ठण्ड से बचने के लिये दक्षिण की ओर उड़ान भरने लगते हैं।

इसी प्रकार वनस्पति जगत् की भी बात है। वनस्पति जगत् में हमारे फूल हमारे फल अपनी निर्धारित क्रृतु में ही फूलते और फलते हैं और जीत क्रृतु आने से पहले वह अपना उद्देश्य पूर्ण कर लेते हैं।

किन्तु यदि हम देखें कि शीत क्रृतु के आगमन पर भी हमारे सभी फल अधरपक्षे हैं हमारे फूल अभी तक खिले नहीं हैं और उनके बढ़ने की अपेक्षा

पौर्णे मुख्याने लगे हैं तथा फल और फूल गिरने लगे हैं तो हमें इस बात पर विचार करना होगा कि इस सम्बन्ध में कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। कहीं भूल हुई है। यही स्थिति मनुष्य प्राणी की भी है। जब हम देखते हैं कि सैकड़ों करोड़ों मनुष्य अपनी आयु की पूर्णता को प्राप्त होते हैं किन्तु अनेक ऐसे भी होते हैं जो कि अपंग, अपाहिज बन जाते हैं अथवा अकाल मृत्यु के ग्रास हो जाते हैं, तो हमें समझना चाहिये कि इस विषय में भी कहीं कुछ असावधानी अथवा कुछ गड़बड़ी अवश्य हुई है।

जीवन रूपी वृक्ष के नीचे जब हम इस प्रकार किसी का अध्ययन करते हैं तो हमें सौचना पड़ता है। जबकि नर और नारी, जिनको ईश्वरीय गुण उत्तराधिकार में प्राप्त हुए हैं और जो अनन्त सम्भावनाओं से परिपूर्ण है, जबकि वे अपने जीवन पथ के आधे मार्ग पर ही होते हैं कि गिर जाते हैं तो हमें सौचना पड़ता है, यहाँ पर कुछ गड़बड़ है। कहीं कुछ गलती हुई है।

किन्तु हमेशा तो ऐसा नहीं होता। मनुष्य के पूर्ण आत्मविकास के लिये कभी न कभी एक उपयुक्त अवसर तो आता है। यदि ऐसी अवस्था में वह अपनी कल्पनाओं को साकार करने के लिये प्रयत्नशील होगा तो कोई कारण नहीं कि उसकी आकांक्षायें पूर्ण न हों। उनको वह अवसर प्राप्त होगा। जब उसकी सभी कल्पनायें साकार सिद्ध होंगी। तब वह देखेगा कि उसकी परिधि प्रसन्नता से खिल उठी है, चारों ओर उल्लास ही उल्लास है। किन्तु ऐसे समय को अपने समीप लाने के लिये मनुष्य को अश्वक परिश्रम करना होगा। कल्पना की उड़ान भरने अथवा स्वप्न संज्ञोने मात्र से कार्य सिद्धि सम्भव नहीं है।

समय और अवसर के लिये हमें देखना होगा कि हमारे भीतर जो दुर्बलताएँ हैं वे हमारा मार्ग अवरुद्ध न कर दें, समय से पूर्व हम मुरझा न जायें। यह सब किसी पुस्तक में लिखा नहीं होता और न ही इसका कोई चित्र आपको प्राप्त होगा। इसके लिये आपकी प्रेरणा आपका मार्गदर्शन करेगी।

यह सबको ज्ञात है कि प्रत्येक नर अथवा नारी में परिपूर्णत्व एवं आदर्शव्यक्ति बनने की सामग्री विद्यमान होती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम मानसिक रूपेण उस परिपूर्ण नमूने, परिपूर्ण आदर्श को अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य से प्राप्त करने का प्रयत्न करें। तब वह शीघ्र ही जीवन में समाविष्ट हो जायेगी और मनुष्य परिपूर्ण मनुष्य बन जायेगा।

जिस प्रकार वह परिपूर्ण है उसी प्रकार वह हमको भी प्रेरित करता है, मनुष्य उसका प्रतिबिम्ब नहीं उन जैसा ही बन सकता है। उसमें वह सब करने और बनने की शक्ति विद्यमान है, यह वास्तव में सत्य है। (आप क्या नहीं कर सकते? स्वेच्छ मार्डन)

पंच भावनाये इन ग्रन्थों में सौचना
असंक्लिष्टतपः शास्त्रः सत्त्वैकत्व धृतिक्षिता ।
पंचदा भावना भाव्या भवन्नमण भीरुणा ॥ (194)

जो संकलेश रहित है ऐसी ग्राह्य भावना पाँच प्रकार की है, तभी भावना, ज्ञान भावना, सत्त्व भावना, धृतिभावना, एकत्व भावना संसार से भयभीत साधु को इन भावनाओं को मानना चाहिये।

(1) तपो भावना—

दांतान्यक्षाणि गच्छन्ति तपो भावनया वशम् ।
विधानेनेन्द्रियाचार्यः समाधाने प्रवर्तते ॥ (195)

तपो भावना से दमित हुई इन्द्रियाँ बग हो जाती हैं, इस तप भावना रूप विधान के द्वारा साधु इन्द्रियाचार्य अर्थात् इन्द्रियों का शिक्षा देने वाला होता है और वह समाधान अर्थात् रत्नत्रय में प्रवृत्त हो जाता है।

इन्द्रियाचार्य सुखासक्तः परीष्वह पराजितः ।
जीवोऽकृतक्रियाः क्लीबो मुहूत्याराधनाविधी ॥ (196)

जो साधु उक्त तपो भावना रहित है अर्थात् अनशन आदि तपश्चर्या नहीं करता है वह इन्द्रिय सुख में आसक्त होता है, परीष्वह उसे पराजित कर देती है अर्थात् वह परिष्वहों पर विजय नहीं पाता, करने योग्य क्रिया को नहीं कर पाता और इस प्रकार शक्ति हीन नपुंसक जैसा हुआ आराधना विधि संन्यासमरण या सम्यक्त्वादि चार आराधना करने में असमर्थ होता है।

लालितः सर्वदा सौख्यरकारित परिक्रियः ।
कार्यकारी यथा ना श्वो बाह्यमानो रणांगणे ॥ (197)

जिस प्रकार सदा जिसको सुखों में लालित किया है सवारी आदि परिक्रिया जिससे नहीं करायी है ऐसा अश्व युद्ध स्थल में कार्य में लगाने पर भी अपने कार्य करने में समर्थ नहीं होता।

अकारित तपो योग्यश्चिरं विषय मूर्च्छितः ।
न जीवो मृत्युकालेऽस्ति परीष्वहस्तथा ॥ (198)

उसी प्रकार जो विषयों में मूर्च्छित है, योग्य तप को चिरकाल तक जिसने नहीं किया वह यति मरण काल में परीष्वह वेदना आदि सहने में समर्थ नहीं हो सकता।

विधापितः क्रियां योग्यां सर्वदा दुःख वासितः ।
बाह्यमानो यथा बाजी कार्यकारी रणक्षितौ ॥ (199)

जिस प्रकार अश्व द्वारा पहले कूदना, इशारे पर चलना, शीत आदि सहना इत्यादि कार्यों को कराया गया है सदा दुःखों से वासित किया है ऐसे अश्व को

रण भूमि में ले जाने पर वह स्वामी के इशारे पर चल कर युद्ध में कार्यकारी होता है।

विद्यापितस्तपो योग्यं हृषीकार्थं परांमुखः ।

जायते मृत्युं कालेऽग्नीं परीष्वह सहस्तथा ॥ (200)

उसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों से जो विरक्त है अनशन आदि योग्य तप को जिसने पूर्व काल में भली प्रकार कर लिया है वह साधु मरण काल में परीष्वह सहने में समर्थ होता है।

(2) ज्ञान भावना—

चतुरंगं परिणामं श्रुतं भावनया परः ।

निर्व्यक्षेपः प्रतिज्ञातं स्वं निर्बहृयते ततः ॥ (201)

श्रुत भावना अर्थात् भली प्रकार से शास्त्रों का अध्ययन जिसने कर लिया है वह अपनी श्रुत भावना द्वारा चतुरंग परिणाम सम्यक्त्व आदि चार आराधना में उपयुक्त होता है। निर्व्यक्षेप अर्थात् विक्षेप विकल्प या आकुलता रहित होकर अपने प्रतिज्ञात नियम को अच्छी तरह निभाता है।

स्वन्यस्तजिनवाक्यस्यरचितो चित्त कर्मणः ।

परीष्वहापदः शक्ता न कर्तुं स्मृतिलोपनम् ॥ (202)

जिसने जिनेन्द्र प्रभु के वाक्य अर्थात् आगमार्थ में अपने को लगाया है पठन मनन आदि उचित क्रिया में जो तत्पर है ऐसे साधु के मरण काल में वेदना के समय भी परीष्वह उपसर्ग आदि स्मरण का नाश नहीं कर पाते। अर्थात् भली प्रकार शास्त्र ज्ञान में लगे रहने से वह ज्ञान सदा जागृत रहता है मरण की वेदना से भी वह विस्मृत नहीं होता। अथवा शास्त्राभ्यासी साधु के स्मृति का नाश नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान या श्रुत भावना का फल जानकर सदा ज्ञान में भावना करनी चाहिये।

(3) सत्त्व भावना—

भोग्यमाणोऽप्यहोरात्रं भीमरूपः सुरासुरैः ।

सत्त्व भावनया साधुं धूरि धारयतेऽखिलम् ॥ (203)

भयंकर रूप वाले देव और असुरों द्वारा दिन शात डराने पर भी साधु सत्त्व भावना से अखिल संयम धूरा को धारण कर लेते हैं।

विमुहात्युपसर्गं नो सत्त्व भावनया यतिः ।
युद्ध भावनया युद्धे भीषणेऽपि भटो यथा ॥ (204)

सत्त्व भावना के बल से साधु उपसर्ग के समय मोहित नहीं होता अर्थात् उपसर्ग पर विजय पाता है। जैसे कि जिसने युद्ध का अध्यास कर लिया है ऐसा सुभट उस युद्ध भावना के बल से भीषण युद्ध में भी डरता नहीं, विजय पाता है।

(4) एकत्व भावना—

कामे भोगे गणे देहे विवृद्धकत्वभावनः ।

करोति निःस्पृहीभूय साधुर्धर्ममनुत्तरम् ॥ (205)

काम में, भोग में, संघ में और शरीर में जिसने एकत्व की भावना को बढ़ाया है अर्थात् ये काम भोग आदि मुक्त से भिन्न हैं मैं सर्वथा अकेला हूँ इत्यादि रूप एकत्व भावना युक्त जो साधु है वह निःस्पृह होकर उत्कृष्ट धर्म को करता है।

स्वसु विद्यर्थं छट्वा जिनकल्पीव संयतः ।

एकत्वभावनाभ्यासो न मुहूर्ति कदाचन ॥ (206)

जिन कल्पी नागदत्त नाम के मुनिराज अपनी बहिन के साथ अनेक अत्याचार को होते हुए देखकर भी एकत्व भावना वा अध्यास होने से मोहित नहीं हुए, उन मुनिराज के समान ही एकत्व भावना वाले साधु किसी भी पदार्थ में मोह को प्राप्त नहीं होते हैं।

(5) धृति भावना—

उपसर्गं महायोधां परीष्वहच्चमूः परा ।

कुर्वण्णामत्पस्त्वानां दुनिवारररयां भयम् ॥ (207)

धीरतसेनया धीरो विवेकशर जालया ।

जायते योधयन्नाशु साधुः पूर्णं मनोरथः ॥ (208)

विद्याय विद्यिना इष्टिज्ञानं चारिवशोधनम् ।

चिरं विहरतां षष्ठ्या यति भावनयाऽनया ॥ (209)

उपसर्ग रूपी महान् योद्धा जिसमें है ऐसी परीष्वह रूपी दुर्वारवेग वाली बड़ी भारी सेना जो अल्पशक्ति वाले जीवों को भय उत्पन्न करती है, उसको धीर वीर साधु अपनी धृति भावना रूपी सेना द्वारा जो कि विवेक बाण समूह से पूर्ण है, उसके द्वारा युद्ध करके शीघ्र ही पूर्ण मनोरथ होता है अर्थात् परीष्वह आदि पर विजय प्राप्त कर लेता है। साधु इस धृति भावना द्वारा विद्यिपूर्वक दर्शन ज्ञान और चारिवश का शोधन करके चिरकाल तक विहार करें। कांदर्पी आदि अशुभ पाँच भावनाओं का त्याग करके छठी तपो भावना आदि रूप भावना द्वारा रत्नव्रय का शोधन करें।

नागदत्त नाम के एक राज पुत्र थे, वैराग्य युक्त होकर उन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा ली और धीर तपश्चरण करते हुए जिनकल्पी मुनिराज बने। एक समय वे वन में ध्यान के लिये प्रविष्ट हुए उस स्थान पर डाकुओं का अहू था, डाकुओं ने समझा कि यह व्यक्ति हमारा भेद पथिकों को बतायेगा ऐसा मानकर वे डाकु उन्हें लास देने के लिये उद्यत हुए किन्तु मुनिराज के स्वरूप को जानने वाले डाकुओं के सरदार ने लास देने से रोक दिया और कहा कि ये सब संसार माया से दूर, हैं इन्हें किसी से

ममत्व नहीं है। मुनिराज कुछ काल तक वहीं ठहर गये। एक दिन उन नागदत्त मुनिराज की माता जो कि नगर के राजा की प्रमुख रानी थी और अपनी कन्या को तथा योग्य वैभव एवं परिकर वो लेकर दूसरे देश में जा रही थी, उसी वन में पहुँची वह मुनिराज के दर्शन कर प्रश्न करती है कि हे साधो ! आप यहाँ वन में निवास करते हो, मुझे बताइये कि इस वन में कुछ भय तो नहीं है ? मेरे साथ युवती कन्या अर्थात् आपकी बहिन है और वैभव है। एकत्व भावना से वासित है मन जिनका ऐसे वे श्रेष्ठ यति मौनस्थ रहे उत्तर नहीं दिया; जबकि वे जानते थे कि यहाँ चोरों का भय है। रानी वन में आगे गमन कर जाती है और बीच में डाकुओं द्वारा पकड़ी जाती है। डाकु समस्त माल तथा रानी और सुन्दर नव-यौवना राजकन्या को अपने सरदार के निकट ले जाते हैं। सरदार खुश होकर कहता है देखो मैंने पहले कहा था कि मुनिराज किसी को कुछ नहीं बताते हैं। इस बाक्य को सुनकर रानी अत्यन्त कुपित होकर कहती है—हे सरदार ! मुझे कुरी दो, जिस उदर में मैंने उस पापी मुनि को नी मास रखा उसको चीर डालती हूँ। उसने मेरे उदर को अपवित्र किया है इत्यादि। इस बाक्य को सुनकर सरदार को मालूम होता है कि यह मुनिराज की माता है और यह सुन्दर कन्या बहित है। मुनिराज के इतने विशिष्ट विस्पृह भाव को जातकर सरदार एकदम विरक्ति को प्राप्त होता है और गदगद वाणी से कहता है कि हे माता ! तुम धन्य हो तुम तो जगत्माता हो, तुम्हारी कुश्चि धन्य है वह कदापि अविद्यनहीं, जिससे ऐसे महान् वैरागी आत्मा ने जन्म लिया। इत्यादि बाक्य से रानी को सांत्वना देकर रानी को अपनी माता और कन्या को बहन सहश आदर करके सम्पूर्ण वैभव के साथ उनके इष्ट देश में पहुँचा देता है, तथा स्वयं सर्व चौर्य आदि पापों का त्याग करता है।

अभीष्ट-ज्ञानोपयोगी, सिद्धांत चक्रवर्ती, एनाधार्य,
उपादयाय श्री कनकनन्दीजी द्वारा रचित ग्रन्थ

आपको जानकर हर्ष होगा कि जैन धर्म की वैज्ञानिकता, दार्शनिकता एवं मत्त्वज्ञता से सभी वर्गों के परिचय हेतु—‘धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन’ कार्यरत हैं। वर्तमान वैज्ञानिक युग की पीढ़ी, बुद्धिजीवी वर्ग एवं जैन-जीनेतर बन्धुओं की मानसिकता को दृष्टिगत कर रखी गई सभी पुस्तकें आपको स्वयं अपने अन्तर्मन में उमड़ते प्रश्नों का ही उत्तर प्रतीत होंगी।

उपाध्याय कनकनन्दी जी की लेखिवी से भूगोल, विज्ञान, शौकिक विज्ञान, जीवविज्ञान, राजनीति, रसायन विज्ञान, खगोल, गन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, आयुर्वेद, मनोविज्ञान, क्रह्डि, पिछ्डि, स्वप्न विज्ञान, ध्यान-योग, इतिहासादि सभी को विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तूत किया गया है।

प्रकाशित पस्तकें :

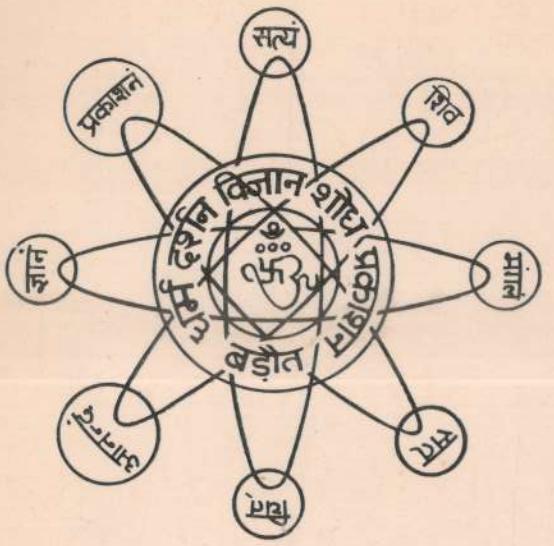
- (1) धर्म विज्ञान बिन्दु (मूल्य 15.00 रु)
 - (2) धर्म ज्ञान एवं विज्ञान (हिन्दी व अंग्रेजी) (मूल्य 15.00 रु)
 - (3) भारत एवं पुरुषार्थ (हिन्दी व अंग्रेजी) (मूल्य 15.00 रु)
 - (4) Fate and Efforts (मूल्य 15.00 रु)
 - (5) शासन का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण (हिन्दी) (मूल्य 20.00 रु)
 - (6) Nakedness of Digamber Jain Saints and Kesh-Lonch.
(Rs. 5.00)
 - (7) जिनार्चन पुष्टि-I एवं II (मूल्य 21.00 रु प्रति भाग)
 - (8) धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान पुष्टि-I एवं II (मूल्य 20.00 रु प्रति भाग)
 - (9) पुण्य-पाप मीमांसा (मूल्य 15.00 रु)
 - (10) निमित्त उपादान मीमांसा (मूल्य 7.00 रु)
 - (11) धर्म दर्शन एवं विज्ञान (मूल्य 21.00 रु)
 - (12) क्रांति के अग्रदृश (मूल्य 10.00 रु)
 - (13) लेख्या-मनोविज्ञान (मूल्य 6.00 रु)
 - (14) क्रष्ण पुत्र भरत से भारत (मूल्य 10.00 रु)
 - (15) ध्यान का एक वैज्ञानिक विश्लेषण (मूल्य 15.00 रु)
 - (16) अनेकान्त दर्शन (मूल्य 20.00 रु)
 - (17) कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन (मूल्य 25.00 रु)
 - (18) युग निर्माता क्रष्णदेव (मूल्य 15.00 रु)
 - (19) विश्व शास्त्र के अमोघ उपाय (मूल्य 10.00 रु)
 - (20) मनन एवं प्रबन्धन (मूल्य 5.00 रु)
 - (21) अहिंसामृतम् (मूल्य 7.00 रु)
 - (22) विनय मोक्षद्वार (मूल्य 5.00 रु)

- (23) धर्मा वीरस्य भूषणं (मूल्य 15.00 रु.)
- (24) संगठन के सूत्र (मूल्य 10.00 रु.)
- (25) अतिमानवीय शक्ति (मूल्य 21.00 रु.)
- (26) मन्त्र विज्ञान (मूल्य 10.00 रु.)
- (27) Philosophy of Scientific Religion (Rs. 15.00)
- (28) दिगम्बर जैन साधु का नगनत्व एवं केशलोच (हिन्दी, अंग्रेजी व मराठी)
(मूल्य 5.00 रु प्रति पुस्तक)
- (29) धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पुष्प-I एवं II (मूल्य 5.00 रु.)
- (30) संस्कार (हिन्दी व अंग्रेजी) (मूल्य 5.00 रु.)
- (31) भगवान् महावीर और उनका दिव्य संदेश (मूल्य 5.00 रु.)
- (32) विश्व विज्ञान रहस्य (मूल्य 100.00 रु.)
- (33) Religious and scientific analysis of Vyasan (Rs. 20.00)
- (34) स्वप्न विज्ञान (मूल्य 25.00 रु.)
- (35) त्रैलोक्यपूज्य ब्रह्माचर्य (मूल्य 12.00 रु.)
- (36) आत्मोत्थानोपायः तप (मूल्य 9.00 रु.)
- (37) तत्त्वानुचिन्तन (मूल्य 15.00 रु.)
- (38) दिगम्बर जैन साधु का नगनत्व एवं केशलोच (गुजराती) (मूल्य 5.00 रु.)
- (39) विश्व इतिहास (मूल्य 25.00 रु.)
- (40) शकुन विज्ञान (मूल्य 25.00 रु.)
- (41) बाल धर्म विज्ञान (मूल्य 8.00 रु.)
- (42) कथा सुमन मालिका (मूल्य 15.00 रु.)
- (43) 72 कलाओं (मूल्य 5.00 रु.)

प्रकाशन की ओर से साधु-संघों, स्वाध्याय शालाओं, धार्मिक शिक्षण संस्थाओं, शोधरत छात्रों, असमर्थ भाई-बहिनों को पुस्तकें निःशुल्क भेट की जाती हैं। पूरा सेट क्रय करने पर पुस्तकालय, वाचनालय शिक्षण संस्थाओं के लिए 25% छूट से शास्त्र भेज दिये जायेंगे। सामान्य स्वाध्याय प्रेमियों के लिए 10% छूट है, डाक खर्च अलग से है। आजीवन सदस्य के लिए सदस्यता शुल्क 210/- रु. है। द्रव्यदाता, आजीवन-सदस्य, कार्य-कर्त्ताओं को संस्था की समस्त पुस्तकें निःशुल्क मिलती हैं। आर्थिक दृष्टि से समर्थ सामान्य व्यक्ति से उचित मूल्य इसलिए प्राप्त किया जाता है कि जिससे साहित्य का अवमूल्यन न हो, योग्य व्यक्ति को साहित्य प्राप्त हो, साहित्य का आदर हो, साहित्य प्रकाशन के लिये ज्ञानदाता (सहयोग) हो, साधु आदि को निःशुल्क साहित्य भेजने में आर्थिक आपूर्ति हो एवं उस सहयोग से अधिक से अधिक साहित्य प्रकाशन, प्रचार, प्रसार हो। द्रव्यदाता को उस द्रव्य से प्रकाशित प्रतियों की एक दरमांश प्रतियाँ भी निःशुल्क प्राप्त होंगी।

निवेदक

धर्म-दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन
निकट दिगम्बर जैन अतिथि भवन
बड़ौत-250611 मेरठ (उ० प्र०)



मुद्रक : प्रैसीडेण्ट प्रेस, 90 विवेकानन्द पथ, मेरठ कैन्ट।

दूरभाष : 76708, 73143